#### म्बर्गवामी माध्चरित श्रीमान डालचन्द्जी सिंघी



जन्म वि.सं. १९२१, मार्गविट :

वि.स ५९८४, पाप सृति :

# सिंघी जैन ग्रन्थमाला



महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिरचिता

जैन तर्क भाषा

# सिंघी जैन ग्रन्थमाला

त्रैन भागसिक, दार्शनिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, कथाध्मक - हत्यादि विविधविषयगुन्कित प्राकृत, संस्कृत, अपभंत, प्राचीनगूजैर, राजस्थानी आदि भाषानिबद बहु उपभुक्त पुरातनवाद्यय तथा नवीन संशोधनाध्मक साहित्यप्रकाशिनी जैन प्रस्थाविस

कलकचानिवासी स्वर्गस्य श्रीमद् डालचन्दजी सिंघी की पुण्यस्मृतिनिमिच क्खपुत्र श्रीमान् वहादुरसिंहजी सिंघी कर्ष्टक

संस्थापित तथा प्रकाशित

-949 644-

सम्पादक तथा सञ्चालक

## जिनविजय मुनि

[ सम्मान्य सभासद-भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर पूना, तथा पूजरात साहित्य-सभा कहमदाबाद; भूतपूर्वाचार्य-पूजरात पुरातत्वमन्दिर जहमदाबाद; जैन बाङ्मयाच्यापक विश्वभारती, शान्तिनिकेतन; संस्कृत, प्राकृत, पाळी, प्राचीनगूर्वर जादि अनेकानेक ग्रंथ संशोधक-सम्पादक । ]

## ग्रन्थांक ८

प्राप्तिस्थान

## व्यवस्थापक-सिंघी जैन ग्रन्थमाला

अनेकान्त विहार ९, श्लान्तिनगर; **पोष्ट-सावरमती** हे <sup>१६.५</sup> ब्लिट १९८,गरियाहाटरोड; **पो० बालीगंज** अ**हमदाबाद** कलकरूसा

स्थापनाब्द ]

सर्वाधिकार संरक्षित

वि० सं० १९८६

#### महोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिरचिता

# जैन तर्क भाषा

[ तात्पर्यसंत्रहास्यवृत्तिसहिता । ]

### पण्डित सुखलालजी संघवा

जैनदर्शनाध्वापक-हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस [ भृतपूर्व-दर्शनशास्त्राध्यापक-गृजरात पुरातस्वमन्दिर-अहम*दाबाद* ]

तथा

पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायशास्त्री न्यायतीर्थ, जैनदर्शनाध्यापक-स्याद्वादविद्यास्य बनारस पण्डित दलसुख मालवणिया न्या यतीर्थ, बनारस

प्रकाशन कर्ती

## संचालक-सिंघी जैन ग्रन्थमाला

अहमदाबाद - कलकता

विक्रमाञ्ड १९९४ ]

प्रथमाङ्क्ति, प्रक्षहस्त प्रति ।

[ १९३८ कि हाब्द

### SINGHI JAINA SERIES

A COLLECTION OF CRITICAL EDITIONS OF MOST IMPORTANT CANONICAL,
PHILOSOPHICAL HISTORICAL LITERARY, NARRATIVE ETC. WORKS OF
JAINA LITERATURE IN PRÄKÇTA, SANSKRTA, APABHRAMSA
AND OLD VERNACULAR LANGUAGES, AND STUDIES BY
COMPETENT RESEARCH SCHOLARS.

#### FOUNDED AND PUBLISHED

uν

SRIMAN BAHADUR SINGHJI SINGHI OF CALCUTTA

## SRĪ DALCHANDJĪ SINGHĪ.



GENERAL EDITOR

#### JINA VIJAYA MUNI

HONORARY MEMBER OF THE DEANDARKAR ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE OF FOOMA AND CUURAT SAHITYA SABHA OF AHMEDABAD FORMERLY FRINCIPAL OF CUURAT PURATATTYAMAHDIN OF AHMEDABAD EDITOR OF MANY SANSKRTA, FRANGTA, FALI, APABHRANSA, AND OLD CUURATT WORKS.

### NUMBER 8

TO BE HAD FROM

#### VYAYASTHÁPAKA, SINGHÍ JAINA GRANTHAMÁI Á

ANEKANT VIHAR

9. SHANTI NAGAR

PO. SABARMATI, AHMEDABAD.

Founded |

All rights resemed

1931. A. D.

## JAIN TARKA BHÁSÁ

OF

### MAHOPADHYAYA SRI YSOVIJAYA GANI

WITH TATPARYASANGRAHA

BY

### Pandit SUKHLĀLJĪ SANGHAVĪ

PROFESSOR OF JAIN PHILOSOPHY, HINDU UNIVERSITY, BENARES:

LATE PROFLSSOR OF INDIAN PHILOSOPHY, GÜJRÄT

PURÄTATTVA MANDIR, AHMEDABAD,

Pandit MAHENDRA KUMAR SASTRI

Pandit DALSUKH MÄLYANIÄ

NYÄYA TĪRTHA, SYÄDWĀDA JAINA VIDYĀLAVA, BENARES NÝAYA TÏETHA BENARES.

PUBLISHED BY

#### THE SANCHĀLAKA-SINGHĪ JAINA GRANTHAMĀLA

AHMEDABAD-C4LCUTIA

#### ॥ सिंधीजैनग्रन्थमालासंस्थापकप्रशस्तिः ॥

अस्ति बङ्गाभिये देशे सुमसिद्धा मनोरमा । सुशिदाबाद इत्याख्या पुरी वैभवशालिनी ॥
निवसन्यमेके तत्र जैना उकेशवंश्वाः । धनाव्या नृपसद्दशा धर्मकर्मपरायणाः ॥
श्रीडालचन्द इत्यासीत् तेव्वेको बहुभाग्यवान् । साधुक्त् सम्बरित्रो यः सिर्वीकुल्प्रमाकरः ॥
बाह्म एवागतो यो हि कर्षु व्यापारविस्तृतिम् । कल्कितामहापुर्या धृतप्रमीर्थनिश्चयः ॥
कुशाप्रया स्ववुद्धयेव सञ्चूस्या च सुनिष्ठया । उषार्थ्य विपुलां लक्ष्मी जातो कोव्यापियो हि सः ॥
तस्य मन्तुकुमारीति सन्नारीकुल्पण्डना । पतित्रता पिया जाता शील्सौमाग्यभूषणा ॥
श्रीबहाहुरसिंहाक्यः स्दुर्णा सुयुत्रस्तयोः । अस्त्येष सुकृती दानी धर्मप्रियो धियां निष्यः ॥
प्राप्ता पुण्यवताऽनेन पिया तिल्कसुन्दरी । यस्याः सौमाग्यदीपन प्रदीसं यद्धहाकृणम् ॥
श्रीमान् राजेन्द्रसिंहोऽस्ति ज्येष्ठपुत्रः सुशिक्षितः । यः सर्वेकायदक्षत्वात् बाहुर्यस्य हि दक्षिणः ॥
नरेन्द्रसिंह इत्याख्यस्तेजस्वी मध्यमः सुतः । सुतुर्विरिन्द्रसिंहश्च कनिष्ठः सौम्यदर्शनः ॥
सन्ति त्रयोऽपि सर्युत्रा आप्तमक्तिपरायणाः । विनीताः सरला भन्याः पितुर्मार्गानुगानिनः ॥
कन्येऽपि बहुवश्चास्य सन्ति स्वसादिवान्थवाः । धनेवेनैः समृद्धोऽयं ततो राजेव राजते ॥

#### अन्य**च**—

सरस्वत्यां सदासको भूता रूक्ष्मिवियोऽप्ययम् । तत्राप्येष सदाचारी तिश्चित्रं विदुषां सलु॥ न गर्वो नाप्यदंकारो न विलासो न दुष्कृतिः । दृश्यतेऽस्य गृहे कापि सतां तद् विस्मयास्पदम् ॥ भक्तो गुरुवन्तां यो विनीतः सज्जनान् प्रति । वन्युजनेऽनुरक्तोऽस्ति श्रीतः पोप्यगणेप्वपि ॥ देश कारुश्यितिज्ञोऽयं विचा-विज्ञानपुक्वः । इतिहासादिसाहित्य-संस्कृति साकरूपियः ॥ समुक्तर्यं समाजस्य धर्मस्योत्कर्षहेत्व । प्रचारार्थं द्वाशिक्षाया व्ययस्थि घर्न व नम् ॥ गत्वा समा-समित्यादौ भूत्वाऽध्यक्षपदाश्चितः । दश्वादानं यथायोग्यं प्रोत्साहृत्वति कर्मठात् ॥ एवं धनेन देहेन ज्ञानेन ग्रुअनिष्ठया ॥ करोत्ययं यथाशक्ति सत्कर्माणि सदाश्चयः ॥ लथान्यदा प्रसक्ति स्वर्णात्व स्वर्णात्व कर्मठात् ॥ इत्याद्वा सस्कृतस्वर्णात्व स्वर्णात्व स्वर्यात्व स्वर्णात्व स्वर्णात्व स्वर्णात्व स्वर्णात्व स्वर्णात्व स्वर्णात्व स्वर्णात

भूयांसि प्रन्थरत्नानि संस्कृत्य पुण्यसश्चयात् । सार्थकाल्यतया ल्यातः श्रीपुण्यविजयो मुनिः ॥ वृद्धतरस्य वृद्धस्य कान्तेश्च चतुरस्य च । विजयान्तस्य सेवासु मुदितस्थिरमानसः ॥ कार्यार्थिभ्यः समस्तेभ्यः शास्त्रसंस्कारकर्मस् ।

साहाय्यं ददते तस्मे कृतिरेषा समर्प्यते॥

सुखलालसंघविना

#### संकेतानां सूची

```
भनु० टी०--भनुयोगद्वारसम्बरीका ( देवचन्द लालभाई, स्रत ) ।
   अनुयो॰ स॰--अनुयोगद्वारसत्रम् (
   आवा - आवाराङसम्म ( आगमोदयसमिति, सुरत )।
   आव॰ नि॰ -- आवदयक्रनियंक्तिः ( आगमोदयसमिति, स्रत )।
   तरबार्धभा - नरबार्थभाष्यम ( देवचन्द कालमाई, सरत )।
   तरवार्धभा • व • -- तस्वार्धभाष्यवृत्तिः सिद्धसेनगणिकृता ( " )।
                  तस्त्रार्थराजवार्त्तिहम् ( सनातन बैनग्रन्थमाला, काशी )।
   तरवार्थश्रोकवा०-तरवार्थश्रोकवार्तिकम् ( गांधी नाधारंग जैनग्रन्थमाला, संबर्ध )।
   नयोपदेशः ( भावनगर )।
   म्यायकु०-स्यायकुलुमाञ्जलिः ( चौलस्या संस्कृत विरीष्ट, काशी )।
   न्यायती • — न्यायतीयिका ( जैनियदान्यप्रकाशिनी संस्था, कलकता ) ।
   न्यायदि॰ टी - न्यायदिन्दरीका ( विच्लीश्रीयेका बुद्धिका )।
   प्रत्यक्षवि --- प्रत्यक्षाचिन्तामणिः ( कलकत्ता )।
   प्र. न.-प्रमाणनयतस्वालोकः ( विजयधर्मसनि ग्रन्थमाला, उज्जैन )।
   प्रमाणवा • — प्रमाणवासिंहम् ( अमृद्रितम् -- श्रोराहलसांकृत्वायनसन्हम् ) ।
   प्र॰ मी॰-प्रमाणमीमांसा ( आईतमतप्रभाकर, पूना )
    परी०-परीक्षामखसम्बन्धः (फंडचन्द्रशास्त्री, काशी )।
    मका०-सकावछी ।
   रबाकरा०-स्याद्वादरःनाकरावतारिका ( बशोविजय जैनप्रन्थमाला, काशी ) !
   छवीय · -- छवीयस्त्रयम् ( माणिकचन्द प्रन्थमाला, सुंबई )।
    क्षीय ॰ स्ववि ॰ —स्वीयस्त्रयस्वविवतिः ( अमहिता ) ।
    वादम्यायः ( पटना ) ।
    विशेषा -- विशेषावदयक्रमाध्यम् ( यशोविजय जैनप्रस्थमाला, काशी )।
    विशेषाः यः - विशेषावदयकभाष्यवहदद्वतिः (
    वलोकवा० - मीमांसादलोकवातिकम् ( बीखम्बा संहत्त सिरीझ, काशी )।
    सन्मति॰ सन्मतितर्केश्रवरणम् ( गुजरातपुरातस्वमन्दिरः अमदावादः )।
    सन्मतिटी॰-सन्मतितकंप्रकरणटीका (
    মর্বার্যত
    सर्वार्थिति०
    स्या० र० -स्याद्वादरलाकरः ( आहेतमसप्रभावर, प्रना ) ।
का ---कारिका
                                                मु • — मुद्रितप्रतिः
गा०--गाथा
                                                स-रि॰ <del>- स</del>हितप्रतिगतरिप्पणी
पं∘—पङ्किः
                                                व०-वसंज्ञकप्रति
प्र--पृष्ठस्
                                                सं - संसंज्ञहातिः
प्र- प्रसंज्ञकप्रतिः
                                                सम्पार-सम्पारकः
```

### प्रासंगिक बस्तव्य

#### ----

्रुतः पूर्व सिंधी जैन मन्यमालामें जितने मन्य प्रकाशित हुए वे मुख्यतया इतिहास विषयक हैं; प्रस्तुत प्रन्यके प्रकाशनके साथ, प्रम्थमाला दर्शन विषयक साहित्यके प्रकाशन कार्यका प्रशस्य प्रारम्भ करती है। मालाके मुख्य सम्पादकत्व और सञ्जालकत्वके सम्बन्धसे, यहाँ पर कुछ वक्तत्य प्रकट करना हमारे लिये प्रासंगिक होगा।

जैसा कि इस प्रन्थमालाके प्रकाशित सभी प्रन्थोंके प्रधान मुखपूत्र पर इसका कार्य-प्रदेशसचक उल्लेख अक्टित किया हुआ है-तदनुसार इसका जैनसाहित्योद्धार विषयक ध्येय तो बहुत विज्ञाल है। मनोरथ तो इसका, जैन-प्रवचनगत 'आगमिक, दार्शनिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, कथात्मक' इत्यादि सभी विषयके महत्त्वके प्रन्थोंका, विशिष्टरूपसे संशोधन-सम्पादन कर यथाशक्य उन्हें प्रकाशित करनेका है। परन्त सबसे पहले अधिक लक्ष्य हमने इतिहास विषयक साहित्यके प्रकाशित करने पर जो दिया है, उसके दो प्रधान कारण हैं। प्रथम तो यह कि-इस विषय पर हमारी, अपने अध्ययनकालके प्रारम्भ ही से कछ विशेष प्रीति रही और उससे इस विषयमें हमारी कुछ थोड़ी-बहत गति भी उल्लेख योग्य हुई। इस इतिहासान्वेषणसे हमारी कुछ बौद्धिक सीमा भी विस्तृत हुई और असांप्रदायिक दृष्टि भी विकसित हुई । हमारे स्वानभवकी यह प्रतीति है कि इस इतिहास विपयक साहित्यके अध्ययन और मननसे जो कुछ तत्त्वावबोध हमें प्राप्त हुआ उससे हमारी बुद्धिकी निरीक्षण और परीक्षण इक्तिमें विशिष्ट प्रगति हुई और भूतकालीन भावोंके स्वरूपको समझनेमें वह यत्किचित सम्यग दृष्टि प्राप्त हुई जो अन्यथा अप्राप्य होती। इस स्वातुभवसे हमारा यह एक दृढ़ मन्तब्य हुआ कि भतकालीन कोई भी भाव और विचारका यथार्थ अवबीध प्राप्त करनेके लिये सर्व-प्रथम तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितिका सम्यग् ज्ञान प्राप्त होना परमावश्यक है। जैन प्रन्थभण्डारों में इस इतिहासान्वेपणके उपयक्त बहुत कुछ साहित्यिक सामग्री यत्र तत्र अस्त-व्यस्त रूपमें उपलब्ध होती है, लेकिन उसको परिश्रमपूर्वक संकलित कर, शास्त्रीय पद्धतिसे व्यवस्थित कर, अन्यान्य प्रमाण और उल्लेखादिसे परिष्कृत कर, आठोचनात्मक और उहापोहात्मक टीका-टिप्पणीयोंसे विवेचित कर. विद्वदमाह्य और जिज्ञासजनगम्य रूपमें उसे प्रकाशित करनेका कोई विशिष्ट प्रयत्न अभी तक जैन जनताने नहीं किया। इसलिये इस प्रन्थमालाके संस्थापक दानशील श्रीमान बाबू श्रीबहादुर सिंहजी सिंघी-जिनको निजको भी हमारे ही जैसी. इतिहासके विषयमें खब उत्कट जिज्ञासा है और जो भारतके प्राचीन स्थापत्य, भास्कर्य, चित्र, निष्क एवं पुरातत्त्वके अच्छे मर्मज हैं और लाखों रूपये व्यय कर जिन्होंने इस विषयकी अनेक बहुमुल्य बस्तुएँ संगृहीत की है-उनका समानशील विद्याच्यासंगपरक सौहार्दपर्ण परामर्श पाकर. सबसे पहले हमने, जैन साहित्यके इसी ऐतिहासिक अङ्गको प्रकाशित करनेका उपक्रम किया।

भीर दूसरा कारण यह है कि-जैन वाक्सयका यह विभाग, जैन धर्म और समाजकी दृष्टिसे तो सहस्वका है ही, लेकिन तदुपरान्त, यह समुक्य भारतवर्षके सर्वसाधारण प्रजाकीय और राजकीय इतिहासकी दृष्टिसे भी वतना ही महस्वका है। जैनवर्सीय साहित्यका यह ऐतिहासिक अङ्ग जितना परिपुष्ट है वतना भारतके अन्य किसी धर्म या सम्प्रदायका नहीं। न बाह्मणधर्मीय साहित्यमें इतनी पेतिहासिक सामगी उपक्रम होती है, न बोह्मधर्मीय साहित्यमें। इसिल्ये जैसा कि हमने ऊपर सूचित किया है, तदनुसार जैन प्रन्यमण्डारों जहाँ तहाँ नाशोन्सुख दशामें पड़ी हुई यह ऐतिहासिक साधन-सम्पत्ति जो, यदि समुचित रूपसे संशोधित-सम्पावित होकर प्रकाशित हो जाय, तो इससे जैन धर्मके गौरवकी स्थावित होगी हो। होगी ही, साम भारतक प्राचीन स्वरूपका विशेष झान प्राप्त करने में भी उससे विशिष्ट सहायता प्राप्त होगी और तद्द्रारा जैन साहित्यकी राष्ट्रीय प्रतिहा वियोप प्रस्वापित होगी। इन्हीं हो कारणों प्रदित होकर इसने सबसे पहले इन इतिहास विषयक प्रन्यांका प्रकाशन करना प्रारम्भ किया। इसके फलस्वरूप अद्युपर्यन्त, इस विययके ६-७ प्रन्य प्रकाशित हो चुके हैं और प्राय: १०-१२ तैयार हो रहे हैं।

अत्र, प्रस्तुत प्रन्थके प्रकाशनके साथ, सिंधी जैन प्रन्यमाला, जैन प्रयचनका विशिष्ट आधारभृत जो दार्शनिक अङ्ग है तद्विपयक साहित्यके प्रकाशनका उपक्रम करती है और इसके द्वारा ध्येय-निर्दिष्ट कार्यप्रदेशके एक विशेष महत्त्वके क्षेत्रमें पदार्पण करती है।

जैन साहित्यका यह दार्शनिक विभाग भी. इतिहास-विभागके जितना ही सर्वोपयोगी और आकर्षक महत्त्व रखता है। भारतवर्षकी समझय गंभीर तत्त्वगवेषणाका यह भी एक बहुत बड़ा और महत्त्वका विचारभंडार है। पूर्वकालीन जैन श्रमणोंने आत्मगवेपणा और मोक्षसाधनाके निमित्त जो कठिनसे कठिनतर तपस्या की तथा अगम्यके ध्यानकी और आनन्त्यके ज्ञानकी सिद्धि प्राप्त करनेके छिये जो घोर विविक्षा अनुभूत की-उसके फल स्वरूप उन्हें भी कई ऐसे अमृत्य विचाररत्न प्राप्त हुए जो जगतुके विशिष्ट कल्याणकारक सिद्ध हुए। अहिंसाका वह महान विचार जो आज जगतुकी शांतिका एक सर्व श्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है और जिसकी अप्रतिहत शक्तिके सामने संसारकी सर्व संहारक शक्तियाँ कुण्ठित होती दिखाई देने लगी हैं: जैन दर्शन-शास्त्रका मौलिक तस्वविचार है। इस अहिंसाकी जो प्रतिष्ठा जैन दर्शनशास्त्रोंने स्थापित की है वह अन्यत्र अज्ञात है। मुक्तिका अनन्य साधन अहिंसा है और उसकी सिद्धि करना यह जैन दर्शनशास्त्रोंका चरम उद्देश है। इसिलेये इस अहिंसाके सिद्धान्तका आकलन यह तो जैन दार्शनिकांका आदर्श रहा ही: लेकिन साथमें, उन्होंने अन्यान्य दार्शनिक सिद्धान्तों और तास्विक विचारोंके चिन्ततसमहसें भी खब गहरे गोते लगाये हैं और उसके अन्तस्तल तक पहुँच कर उसकी गंभीरता और विज्ञा-छताका नाप छेनेके छिये पूरा पुरुपार्थ किया है। भारतीय दर्शनशास्त्रका ऐसा कोई विशिष्ट प्रदेश या कोना बाक़ी नहीं है जिसमें जैन विद्वानोंकी विचारधाराने समेंसेटक प्रवेश न किया हो। महावादी सिद्धसेन दिवाकरसे छेकर न्यायाचार्य महोपाध्याय बज्ञोविजयजीके समय तकके-अर्थात् भारतीय दर्शनशास्त्रके समय इतिहासमें दृष्टिगोचर होनेवाळी प्रारम्भिक संकलनाके उद्गम कालसे लेकर उसके विकासके अन्तिस पूर्व तकके सारे ही सर्जन- समयमं-जैन तार्किक भी इस तर्क मूमिक उक्क्मीच और सम-विषम तर्जोमं सतत चंक्रमण करते रहे हैं और अपने समकक्ष माइण और बौद्ध मतके दार्शनिकों और तत्त्वचिन्तकों की तत्त्वचिन्तकों की तत्त्वचिन्तकों की तत्त्वचिन्तकों की तरह चैन पण्डितों में अनेक नये तर्क और विचार उपस्थित किये; अनेक नये सिद्धान्त स्थापित किये। अनेक वादियों के साथ उन्होंने वाद-विचाद किया और अनेक शास्त्रों का सण्डित-मण्डित किया। जीव, जगत और कार्लकों कल्पनाओं के समुद्रमन्थनमें उन्होंने भी अपना पूरा योग दिया। पश्च-प्रतिवश्वकी विचार भूमिमें माइण और बौद्ध तार्किकों के साथ उन्होंने भी अपने तर्क तुरा, ख्व चेगके साथ दौड़ाये और अपने साथियों के साथ बराबर रहने की पूरी कसरत की। इसके फरू स्वरूप अनेक उत्तमीचन प्रत्यक्ष निर्मत हुए और उनसे जैन साहित्यकी सण्डिक शिवस अधिकतर उत्तत हुआ।

जैन विद्वानोंने दार्शनिक विचारोंकी मीमांसा करतेवाले अनेकानेक प्रन्थ बनाये हैं। इनमें कई प्रन्थ मीलिक सिद्धान्त प्रतिपादम करतेवाले झाम प्रन्थ हैं, कई दार्शनिक और न्यायझात्मकी परिभाषाओंका संचय करतेवाले संग्रह मन्य हैं; कई अनेक मतों और तस्योंका निरूपण करतेवाले समुख्य प्रन्थ हैं और कई विद्याल विवेचना करतेवाले व्याख्या प्रन्थ हैं। इन जैन तार्किकोंमेंसे कई विद्यानोंने—लाम करके श्वेताम्य सम्प्रदायानुयायी आवारोंने—कितने एक बौद्ध और आहण झाक्षोंपर भी, बहुत ही निष्पक्ष दृष्टिपूर्वक, मूल प्रन्थकारोंके भावोंकी अविकल रक्षा करते हुए, प्रौढ़ पाणिडत्यपूर्ण टीकाएँ से हैं, जो उन प्रन्यांक अध्येताओंके लिये उत्तम कोटिकी समझी जाती हैं। बौद्ध नातार्किक दिङ्नागके न्यायम्बेद्ध से उत्तर जैनतर्किकोरोमणि हरिसद्र सूरिकी टीका, तथा ब्राह्मण महानैयायिक भाववंक्षके न्यायसार नामक प्रतिष्ठित झाल्य ए जैन न्यायविद् जयसिंह सूरिकी व्याख्या इसके प्रांजल उदाहरण हैं।

इन जैन दार्शानिक प्रन्योंका सूक्ष्मताके साथ अवलोकन करनेसे हमें इस बातका बहुत इन्छ ज्ञान हो सकता है कि-भारतमें दार्शानिक विचारोंका, किस क्रमसे विकास और विस्तार हुआ। इन जैन नके प्रन्योंमेंसे, कई एक ऐसे दार्शानिक सिद्धान्तों और विचारोंका भी पता रुगता है जो प्राय: पीछेसे विद्युप्त हो गये हैं और जिनका बलेख अन्य शाखोंमें अप्राप्त है। आजीवक, जैराश्चिक, कापालिक, और कई प्रकारके तापस मत इनके विषयमें जितनी ज्ञातन्य वातें जैन तर्क प्रन्योंमें प्राप्त हो सकती हैं, उतनी अन्य तर्क शाखोंमें हो। इन जैन लार्किकोंने चार्चाक मतको भी पहुदर्शनके अन्तर्हित माना और उसको जैन, बौद्ध, सांख्य, न्याय और मीमांसा दर्शनकी समान पंक्तिमें विठाया। उन्होंने कहा, चार्चाक मत भी भारतीय पत्तव्ज्ञानरूप विराट पुरुषका वैसा ही महत्त्वका एक अङ्ग है जैसे अन्यान्य प्रधान मत हैं।

जैन तार्किकोंके दार्शनिक विचार परीक्षाप्रधान रहे। किसी आगम विरोपमें कथित होनेसे ही कोई विचार निर्भान्त सिद्ध नहीं हो सकता; और किसी तीर्थंकर या आमि विरोपके नामकी छाप छगी रहनेसे ही कोई कथन या वचन अवाधित नहीं माना जासकता। आगमकी भी परीक्षा होनी चाहिए और आप्त पुरुषकी भी परीक्षा करनी चाहिए। परीक्षा करने पर जो विचार युक्तिसंगत सिद्ध हो उसका स्वीकार करना चाहिए-चाहे फिर वह विचार किसीका क्यों न हो। यह कथन तो तीर्थंकर महावीरका किया हुआ है इसलिये इसमें कोई शंका न होनी चाहिए, और यह बचन तो ऋषि कपिछका कहा हुआ है इसलिये इसमें कोई तथ्य नहीं समझना चाहिए-पेसा पक्षपातपूर्ण विचार-कहाग्रह जैन तार्किकोंकी दृष्टिमें कुस्सित माना गया है। अद्वा-प्रथान उस शाचीन युगके ये परीक्षाकारक विचार निस्सन्देह महत्त्वका स्थान रखते हैं।

जैन तार्किकोंने अपने दार्शनिक मन्तव्योंका केन्द्र स्थान अनेकान्त सिद्धान्त बनाया और 'स्थात' शब्दाङ्कित बचन भंगीको उसकी स्वरूपबोधक विचार-पद्धति स्थिर कर उस 'स्याद्वाद' को अपना तान्त्विक प्रवपद स्थापित किया। इस अनेकान्त सिद्धान्त और स्याद्वाद विचार-पद्धतिने जैन विद्वानोंको तत्त्व-चिन्तन और तर्क-निरूपण करनेमें वह एक विशिष्ट प्रकारकी समन्वय दृष्टि प्रदान की जिसकी प्राप्तिसे तत्त्वज्ञ पुरुष, राग-द्वेषरूप विभिरपरिपर्ण इस तमोमय संसार कान्तारको सरस्ता पर्वक पार कर अपने अभीष्ट आनन्द स्थानको अव्या-बाधतया अधिकत कर सकता है। जीव और जगत-विषयक अस्तित्व-नास्तित्व नित्यत्व-अतित्यन्त्र एकत्व-अतेकत्व आदि जो भिन्न भिन्न एवं परस्पर विरोधी सिद्धान्त तत्त्वत तत्त्ववेत्ताओं और मत प्रचारकोंने प्रस्थापित किये हैं उनका जैसा सापेक्ष रहस्य इस समन्वय दृष्टिके प्रकाशमें ज्ञात हो सकता है, वह अन्यथा अज्ञेय होगा । इस समन्वय हरिवाला तस्वचिन्तक, किसी एक विचार या सिद्धान्तके प्रथमें अभिनिविष्ट न होकर वह सभी प्रकारके विचारी-सिद्धान्तोंका मध्यस्थता पर्वक अध्ययन और मनन करनेके लिये तत्पर रहेगा । उसकी जिल्लासा बुद्धि किसी पक्षविशेषके प्रस्थापित मत-विचारमें आग्रहवाली न बनकर, निष्पक्ष न्यायाधी हाँके विचारकी तरह, पक्ष ओर विपक्षके अभिनिवेशसे तटस्थ रहकर, सत्यान्वेपण करनेके लिये उद्यत रहेगी। वह किसी यक्ति विशेषको वहाँपर नहीं स्त्रींच छे जायगा, जहां उसकी मति चौंट रही हो; लेकिन वह अपनी मतिको वहाँ ले जायगा. जहां यक्ति अपना स्थान पकते बैठी हो। अनेकान्त सिद्धान्तके अनुयायिओं के ये उदार उद्गार हैं। शायद, ऐसे उद्गार अन्य सिद्धान्तोंके अनुगामिओंके साहित्यमें अपरिचिति होंगे।

ऊपरकी इन कण्डिकाओं के कथनसे झात होगा कि, जैन साहित्यका यह दार्शनिक प्रन्थात्मक अंग भी, समुखय भारतीय दर्शन-साहित्यके रङ्ग मण्डपमें कितना महत्त्वका स्थान रखता है। विना जैन तर्कझासका विशिष्ट आकलन किये, भारतीय तत्त्वझानके इतिहासका अन्वेपण और अवलोकन अपूर्ण ही कहलायगा।

जैनेतर विद्वानों में, बहुत ही अल्प ऐसे दार्शनिक विद्वान् होंगे जो जैन तर्क प्रन्थोंका कुछ विशिष्ट अध्ययन और मनन करते हों। विद्वानोंका बहुत बड़ा समृह तो यह भी नहीं जानता होगा कि स्याद्वाद या अनेकान्तवाद क्या चीज है। हजारों ही ब्राह्मण पण्डित तो यह भी ठीक नहीं जानते होंगे कि बौद्ध और जैन दर्शनमें क्या भेद है। जो कोई विद्वान् माथवाचार्यका बनाया हुआ सर्वदर्शनसंप्रह नामक प्रयक्त अध्ययन करते हैं उन्हें इन्छ खोड़ा बहुत झान जैन दर्शनके सिद्धान्तोंका होता है। इसके विपरीत जैन विद्वानोंका दार्शनिक झान

बिशेष व्यापक होता है। वे कमसे कम न्यायशास्त्रके तो मीलिक प्रन्थोंका अवश्य परिचय प्राप्त करते हैं; और इसके उपरान्त, जिन कितने एक जैन तर्क प्रन्थोंका वे अध्ययन-मनन करते हैं, उनमें, योशी बहुत, सब ही दर्शनोंकी चर्चा और आलोचना की हुई होती है। इससे सभी दर्शनोंके मूलभृत सिद्धान्तोंका योश-बहुत परिचय जैन तर्कान्यासियोंको जरूर रहा करता है।

भारतीय इतिहासके भिन्न-भिन्न बगों और उसके प्रमुख प्रजाशालियोंका जब हम परि-चय करते हैं तब हमें यह एक ऐतिहासिक तथ्य विदित होता है कि जिस तरह जैन विद्वानोंने अन्य दार्शनिक सिद्धान्तोंका अविषयीसभावसे अवलोकन और सत्यता-पर्वक समालोचन किया है, वैसे अन्य विद्वानोंने-खासकर ब्राह्मण विद्वानोंने-जैन सिद्धान्तोंके विषयमें नहीं किया । उदाहरणके लिये वर्तमान युगके एक असाधारण महापुरुष गिने जाने लायक स्वामी दयातन्त्रका उल्लेख किया जा सकता है। स्वामीजीने अपने सत्यार्थप्रकाश नामक सर्वप्रसिद्ध प्रनथमें जैन दर्शनके मन्तव्योंके विषयमें जो ऊटपटांग और अंड-बंड बातें लिखी हैं. वे गरापि विचारशील विदानोंकी हृष्टिमें सर्वथा नगण्य रही हैं: तथापि उनके जैसे गगपरपकी कीर्तिको वे अवस्य कलक्कित करने जैसी हैं और अक्षम्य कोटिमें आनेवाली भ्रान्तिकी परिचायक हैं। इसी तरह हम यदि उस परातन कालके ब्रह्मवादी अदैताचार्य स्वामी झकरके प्रत्योंका पठन करते हैं तो उनमें भी, स्वामी दयानन्दके जैसी निन्छकोटिको तो नहीं, लेकिन भ्रात्तिमलक और विपर्याससचक जैनमत-मीमांसा अवश्य दृष्टिगोचर होती है। स्वामी शहरा-चार्यने अपने ब्रह्ममुत्रोंके भाष्यमें, अनेकान्तसिद्धान्तका जिन यक्तियों द्वारा खण्डन करनेका प्रयक्ष किया है, उन्हें पढकर, किसी भी निष्पक्ष विद्वानको कहना पढेगा कि-या तो ज्ञानाचार्य अनेकान्त सिद्धान्तसे प्रायः अज्ञान थे या उन्होंने ज्ञानपूर्वक इस सिद्धान्तका विपर्यासभावसे परिचय देनेका असाधु प्रयत्न किया है। यही बात प्राय: अन्यान्य शास्त्रकारों के विषयमें भी कही जा सकती है। इस कथनसे हमारा मतलब सिर्फ इतना ही है कि-टेठ प्राचीन काल ही से जैन दार्शनिक मन्तव्योंके विषयमें, जैनेतर दार्शनिकोंका ज्ञान वहत थोडा रहा है और स्यादाद या अनेकान्त सिद्धान्तका सम्यग रहस्य क्या है इसके जाननेकी ग्रद्ध जिल्लासा बहत थोडे विद्वानोंको जागरित हुई है।

अस्तु, भूतकाळमें चाहे जैसा हुआ हो; परंतु, अब समय बरळा है। वह पुराती मतअसिहिष्णुता धीरे-धीरे विदा हो रही है। संसारमें झान और विज्ञानकी बड़ी अह्भुत और
बहुत वेगवाळी प्रगति हो रही है। मतुष्य जातिकी जिज्ञासाष्ट्रित्तने आज बिळकुळ नया रूप
धारण कर ळिया है। एक तरफ हजारों विद्वान भूतकाळके अझेय रहस्यों और पदार्थोंको
सुविज्ञेय करनेमें आकाश-पाताळ एक कर रहे हैं. दूसरी तरफ हजारों विद्वान झात विचारों और सिद्धान्तोंका विशेष व्यापक अवलोकन और परीक्षण कर उनकी सत्य-असत्यता और
तान्त्रिकताकी मीमांसाके पीखे हाथ घो कर पढ़ रहे हैं। मारतीय तत्त्र्वज्ञान को कळतक
मात्र ब्राह्मणों और अमणोंके मठोंकी ही देवोत्तर सम्पत्ति समझी जाती बी वह आज सारे
भूक्षण्डवासियोंकी सर्वसमान्य सम्पत्ति बन गई है। प्रश्वीक किसी भी कोनेमें रहने वाळा
कोई भी रंग या जातिका मतुष्य, यदि चाहे तो आज हस सम्पत्तिक यथेष्ट उपभोग कर सकता है। जिनके सात सी पुरुषों तकके पूर्वजोने जिस ब्रह्मवाद, शून्यवाद या स्याह्मदकं कभी नाम भी नहीं सुना या और जिनकी जीभ इन शब्दोंका उवारण करनेमें भी ठीक समर्थ नहीं हो सकती, वे पिक्षमी आये, आज इन तत्त्ववादोंके, हम भारतीय आयोंसे अधिकतर पारगामी समझे जाते हैं। ब्रह्मवादका महत्त्व आज हम किसी काशीनिवासी ब्राह्मण महामहोपाष्यायके वच्चोंसे वैसा नहीं समझते वैसा आंग्ळहीपशासी डाक्टर मंझ्मुझरके शब्दों हारा समझते हैं; शून्यवादका रहस्य इस किसी लंकावासी बीह महायेरके कथनोंसे वैसा नहीं अवगत कर सकते जैसा स्तवासी यहुदी विद्वान डॉ॰ त्सेरवेटक्कीके लेखों द्वारा कर सकते हैं। स्याह्मका तात्पर्य हम किसी जैनसूरिकककवर्तीकी जिह्नासे वैसा नहीं सुन सकते जैसा जर्मन पण्डित डॉ॰ हेरमान याकोवीके व्याख्यानोंमें सुन पाते हैं। यह सब देख-सुनकर हमें मानना और कहना पड़ता है कि अब समय बदला है।

जिनके पूर्वजोंने एक दिन यह घोषणा की थी कि-'न बदेव यावनीं भाषां प्राणे: कण्टातिरिपं उन्हीं बाइणोंकी सन्तान आज प्राणोंके कण्टा तक आ जानेपर भी यावनी भाषाका पारायण नहीं छोड़ती। और, इसी घोषणांके उत्तराई में उन्हीं भूदेवोंने अपनी सन्तानोंके छिये यह भी कह रखा था-'हिस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेत् जैनमन्दिरम्' वे ही बाइणपुत्र आज प्रत्येक जैन उपाश्रयमें शृहप्राय समझते हुए भी जैन भिक्षुओंकों अहिनेश झाह्याच्यन कराते हैं और विशिष्ट दक्षिणा प्राप्त करनेकी छाछसासे मनमें महामूर्ख मानते हुए भी किसी को 'श्राख्यविद्यारद' और किसी को 'स्रास्थ्यव्यन कराते हैं अ

अब ब्रह्मिवद्या और आईतप्रवचन केवल मठों और उपाश्रयों में बैठकर ही अध्ययन करतेकी वस्तु नहीं रहीं। उनके सम्मानका स्थान अब ब्राह्मण और अमण गुरुओंकी गाईवाँ महीं समझी जातीं, लेकिन विश्वविद्यालयोंके ज्याख्यान-ज्यासपीठ माने जाते हैं। कौनसे विद्यापीठने किस शासको अपने पाष्ट्रक्रममें प्रविष्ट किया है, इसपरसे उस शासका विशिष्ट्य समझा जाता है और उसके अध्ययन-अध्यापनकी और अध्यासियोंकी विज्ञासा आकर्षित होती है। अब अध्यापकण भी-चाहे वह फिर ब्राह्मण हो या चाहे अन्य किसी वर्णका-शृद्ध ही क्यों न हो-सभी शासोंका सहानुभूतिपूर्वक पठन-पाठन करते-कराते हैं और तत्त्वज्ञासा पूर्वक उनका चिन्तन-मनन करते हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, तथा कलकता बन्ध और इखाइगाइकी गुनिविस्तिटयोंने अपने अध्ययन विपयों में अन्यान्य ब्राह्मण शासोंके साथ जैन शासोंकों भी स्थान दिया है और तत्तुसार उन विद्यापीठोंके अधीनत्य कई महाविद्यालयों इन शासोंकों पठन-पाठन भी नियतरूपसे हो रहा है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयने तो जैनशास्त्रके अध्यापककी एक स्वतन्त्र गढी भी प्रतिष्ठित की है।

इस प्रकार, शास्त्रप्रसार निमित्तक इस नवयुगीन नवविधानके कारण, अनेक विद्यार्थी जैन शास्त्रोंका अध्ययन करने छगे हैं और जैन न्यायतीर्थ-न्यायविद्यारद आदि उपाधियोंसे विभूषित होकर विद्योत्तीर्ण होने छगे हैं। जो विद्या और जो झान पूर्वकाउमें बहुत ही कप्ट-साध्य और किंत दुर्लेम समझा जाता या वह आज बहुत ही सहब साध्य और सर्वत्र सुलभ जैसा हो गया है। अब जो किसी खास बातकी आवश्यकता है तो वह है जैन शाखोंके अच्छे शाखोंय पद्धतिसे किये गये संसोधन-संपादनपूर्वक उत्तम संकरणों की। अपने शाखोंका प्रचार करनेकी अभिकापावाले जैन संपके ज्ञानप्रेमी जनोंको लिये यह परम कर्त्तन्य उपस्थित हुआ है, कि अब जैन साहित्यके उन प्रन्यसङ्गोंको, उस तरहसे अक्टंक्त कर प्रकाशों काये जायें, जिससे अध्यापक जनोंको अपने अध्ययन-अध्यापनमें प्रोत्साहन मिले। जैन प्रचनकी सखी प्रभावना ऐसा ही करनेते होगी।

यश्वि, इतःपूर्व, जैन समाजके कुछ विद्यानुरागो श्रमण और श्रावक वर्गने, जैन प्रत्थोंका प्रकाशन कर कितना एक उत्तम एवं प्रशंसनीय कार्य किया है, और अब भी कर रहे हैं; लेकिन उनकी वह कार्यपद्धति, आधिनक ग्रन्थ सम्पादनकी विद्वनमान्य पद्धति और विशिष्ट उपयोगिताकी हृष्टिसे अलंकत न होनेसे. उनके प्रकाशन कार्यका जितना प्रचार और समादर होना चाहिए, उतना नहीं हो पाता। उनके प्रकाशित वे प्रन्थ प्राय: लिखित रूपसे मुद्रित रूपमें परिवर्तित मात्र कर दिये हुए होते हैं, इससे विशेष और कोई संस्कार उनपर नहीं किया जाता: और इस कारणसे, उनका जो कछ उचित महत्त्व है वह विद्वानोंके लक्ष्यमें योग्यरूपसे नहीं आने पाता। यद्यपि हीरेका वास्तविक मुल्याङ्कन उसकी अन्तर्निहित तेजस्थिताके आधारपर ही होता रहता है; तथापि सर्वसाधारणकी हृष्टिमें उसके मल्यकी योग्यता कशस्त्र शिल्पी द्वारा उसपर किये गये मनोरम संस्कार और यथोचित परिवेष्टनादि द्वारा ही सिद्ध होती रहती है। ठीक यही हाल प्रन्थ रजका है। किसी भी प्रन्थका वास्तविक महत्त्व उसके अन्दर रहे हुए अर्थगौरवके अनुसार ही निर्धारित होता रहता है, तथापि, तदिद मर्मेझ संपादक द्वारा उसका उचित संस्कार समापन्न होने पर और विषयोषयुक्त उपोद्यात्, टीका, टिप्पणी, तुलना, समीक्षा, सारालेखन, पाठ-भेद, परिजिष्ट, अनक्रम इत्यादि यथायोग्य परिवेष्टनादि द्वारा अलंकत होकर प्रकाशित होने पर, सर्व साधारण अभ्यासियोंके लक्ष्यमें उस प्रन्थकी उपयोगिताका वह महत्त्व, आ सकता है।

सिंघी जैन मन्यमालाका आदर्श इसी प्रकार मन्योंका संपादन कर प्रकाशित करनेका है। इसका लक्ष्य यह नहीं है कि कितने प्रन्य प्रकाशित किये जायें, लेकिन यह है कि किस प्रकार मन्य प्रकाशित किये जायें। संस्कारिय बाबू श्रीबहादुर सिंहजी सिंघीका ऐसा ही जब ध्येय है, और उसी ध्येयके अनुरूप, इस प्रन्यमालाके दार्शनिक अङ्गका यह प्रथम गन्यरम, इसके सुमर्मेझ बहुशुत विद्वान् संपादक द्वारा, इस प्रकार सर्वोद्ध संस्कृत-परिस्तृत होकर प्रकाशित हो रहा है।

इसके सम्पादन और संस्करणके विषयमें विशेष कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हाथ कंकणको आरसीकी क्या जरूरत है। जो अभ्यासी हैं और जिनका इस विषयमें अधिकार हैं वे इसका महत्त्व स्वयं समझ सकते हैं। अध्यापकवर्ष पण्डित श्रीसुखलालजीका जैन हरीन विषयक अध्ययन, अध्यापन, चिन्तन, अवलोकन, संशोधन, संपादन भादि अनुभव गंभीर, तलस्पर्शी, तुलनामय, मर्मप्राही और स्पष्टावभासी है। पण्डितजीके इस प्रसर अवबोधका जितना दीर्ष परिचय इमको है उतना और किसी को नहीं है। आज प्रापः

२० से भी अधिक वर्ष व्यतीत हो गये, इस दोनों अपने झानसय जीवनकी दृष्टिसे एक प्रथके पिथक बने दूर हैं और हमारा बाग्न जीवन सहवास और सहचार भी प्रायः एकाधिकरण रहा है। तर्कशाक्षके जो दो चार झब्द इस जानते हैं वे हमने इन्हींसे पढ़े हैं। अत एव इस विषयके ये हमारे गुरू हैं और हम इनके शिष्य हैं। इसिंटिये इनके झानके विषयमें हमारा अभिप्राय अधिकारयुक्त हम मानते हैं।

पण्डितजीके इस दार्शानिक पाण्डित्यका विशिष्टत्व निदर्शक तो, सन्मतिप्रकरण नामक जैन तर्कका सबसे महान और आकर स्वरूप प्रन्यका वह संस्करण है जो अहमदाबादके गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर द्वारा प्रकाषित हुआ है। पत्तीस हजार स्त्रोक परि- माणवाले उस महाकाव मन्यकी प्रत्येक पिक्कि अशुद्धियोंसे भरी पढ़ी थी। उसका कोई भी ऐसा पुरातन आवर्र उपलब्ध नहीं है जो इन अशुद्धियोंके पुंजसे प्रभट न हो। चर्मचश्चिदिन होनेपर भी अनेक आदर्शोंके शुद्धाशुद्ध पाटोंका परस्पर मिलान कर, बहुत ही स्थ्मताके साथ प्रत्येक प्रचक्क जो पाठोडार इन्होंने किया है वह इनकी 'प्रशावश्चित'का विस्मयावकोधक प्रमाण है।

इसी जैनतर्कभाषा के साथ साथ, सिंघी जैन प्रन्थमाळाके ळिये, ऐसा ही आदर्श सन्पा-दनवाळा एक उत्तम संस्करण, हेमचन्द्रस्रि रचित प्रमाणमीमांसा नामक तर्क विषयक विशिष्ट प्रत्यका भी पण्डितजी तैयार कर रहे हैं, जो झीप्र ही समाप्त प्राय: होगा। तुळनात्मक हिप्ते न्यायशास्त्रकी परिभाषाका अध्ययन करनेवाळांके ळिये 'मीमांसा' का यह संस्करण एक महत्त्यकी पुत्तक होगी। बौढ, जाझण और जैन दर्शनके पारिभाषिक शञ्दोंकी विशिष्ट तुळनाके साथ उनका ऐतिहासिक कम बतळानेवाळा जैसा विवेचन इस प्रत्यके साथ संकळित किया गया है, वैसा संस्कृत या हिन्दीके और किसी प्रत्यमें किया गया हो ऐसा हमें झात नहीं है।

यशिष, इसमें हमारा कोई कर्तृत्व नहीं है, तथापि हमारे छिये यह हार्दिक आहादकी बात है कि, हमारी प्रेरणाके वशीभृत होकर, झारीरिक दुर्शकताकी अम्यम्थकर परिस्थितिमें भी, आज तीन चार वर्ष जितने दीर्घ समयसे सतत बौद्धिक परिश्रम उठाकर, पण्डितजीने इन झानमणियोंको इस प्रकार सुप्तजित किया और सिंची जैन प्रन्थमालाके सुत्रमें इन्हें पिरोकर तद्द्वारा मालाकी प्रतिग्रामें हमें अपना सहयोग देते हुए 'सहवीये करवावहैं' वाले महर्षियोंके मन्त्रको चरितार्थ किया। अन्तमें हमारी प्रार्थना है कि—'तेजिस्व नावधीतमस्त ।'

अनेकान्त विहार शांतिनगर, अहमदाबाद

जिन विजय

प्रन्थकार — अस्तुत अन्य जैनतर्कभाषाके प्रणेता उपाध्याय श्रीमान् यशोविजय हैं । उनके जीवनके बारेमें सत्य, अर्थसत्य अनेक बातें प्रचलित शीं पर जबसे उन्हींके समकालीन गणी का-नितिवजयजीका बनाया 'सुजावेली भास' पूरा भास हुआ, जो बिलकुङ विश्वसनीय है, तबसे उनके जीवनकी स्तरी सरी बातें बिलकुङ स्पष्ट हो गईं । वह 'भास' तत्कालीन गुजराती भाषामें प्यवन्य है जिसका आधुनिक गुजरातीमें सटिप्पण सार-विवेचन प्रसिद्ध लेखक श्रीयुत मोहन-बाल द द देसाई B. A., LL. B. ने लिसा है । उसके आधारसे यहां उपाध्यायजीका जीवन संक्षेपरें दिया जाता है ।

उपाध्यायजीका जनमस्थान गुजरातमें कलोल (शं॰ शं॰ एवं शं॰ आहं॰ रेल्वे) के पास 'कनोडुं' नामक गाँव है, जो अभी भी मौजूद हैं। उस गाँवमें नारायण नामका व्यापारी था जिसकी धर्मपत्नी सोभागदे थी। उस दम्पतिके जसवंत और पद्मसिंह दो कुनार थे। कभी अकदरप्रतिचोशक प्रसिद्ध जैनाचार्य हीरिजेजय स्रिश्चि छिप्य परेपरामें होनेवाले पण्डितवर्ष्य श्री नयविजय पाटणके समीपवर्ती 'कुंणगेर' नामक गाँवसे विहार करते हुए उस 'कनोडुं' गाँवमें पथारे। उनके प्रतिबोधसे उनके साथ हो लिए और दोनोंने पाटणमें पं० नयविजयजीके पास ही वि० सं० १६८८ में दीक्षा ली उसी साथ श्रीविजयदेव सूरिके हाथसे उनकी बड़ी दीक्षा भी हुई। ठीक ज्ञात नहीं की और उसी साथ श्रीविजयदेव सूरिके हाथसे उनकी वड़ी दीक्षा भी हुई। ठीक ज्ञात नहीं हों। दीक्षाके समय दोनोंकी उम्र क्या होगी, पर संमवतः वे दस-बारह वर्षदे कम उन्नक न होंगे। दीक्षाके समय 'तसवंव' का 'यशविजय' और 'पद्मसिंह' का 'पद्मविजय' नाम रखा गया। उसी पद्मविजयं उपाध्यायजी अपनी कृतिके अंतर्में सहीदर रूपसे स्मरण करते हैं।

सं० १६९९ में 'अहमदाबाद' शहरमें संघ समक्ष पं० यशोविजयजीने आठ अवधान किये । इससे प्रभावित होकर वहाँके एक धनजी सूरा नामक प्रसिद्ध व्यापारीने गुरु श्रीनयविज-यजीको विनति की कि पण्डित यशोविजयजीको काशी जैसे स्थानमें पड़ा कर दूसरा हेमचन्द्र तैयार कीजिए । उक्त सेठने इसके वास्ते दो हजार बॉटीके दीनार खर्च करना मंनूर किया और हुंडी लिख दी । गुरु नयविजयजी शिष्य यशोविजय आदि सहित काशीमें आए और उन्हें वहाँके प्रसिद्ध किसी भट्टाचयेके पास न्याय आदि दर्शनों तीन वर्षतक दक्षिणा-दान-पूर्वक अन्यास कराया। काशीमें ही कभी वादमें किसी विद्वान् पर विजय पानेके बाद पं० यशोविजयजीको 'न्यायविशास्य' की पदनी मिली । उन्हें 'न्यायाचार्य' पद सी मिला या ऐसी प्रसिद्ध रही । पर इसका निर्वेश 'सुजशबेली भास'में नहीं है ।

काश्चीके बाद उन्होंने आगरामें रहकर चार वर्ष तक न्यायशास्त्रका विशेष अभ्यास व चिन्तन किया। इसके बाद वे अहमदाबाद पहुँचे जहाँ उन्होंने औरंगज़ेवके महोबतसाँ नामक गुजरातके स्वेके समक्ष अठारह अवधान किये । इस विद्वचा और कुशल्सासे आकृष्ट होकर समीने पं० यशोविजयजीको 'उपाध्याय' पदके योग्य समझा । श्री विजयदेव स्पिके जिप्य श्रीविजयप्रसस्रिने उन्हें सं० १७१८ में वाचक—उपाध्याय पद समर्पण किया ।

वि० सं० १७५३ में डमोई गाँव, जो बड़ौदा स्टेटमें अमी मौजूद है उसमें उपाध्या-यजीका स्वर्गवास हुआ जहाँ उनकी पादुका वि० सं० १७४५ में प्रतिष्ठित की हुई अमी विध्यसन है।

उपाध्ययजीके शिष्य परिवारका निर्देश 'खुबशबेकी' में तो नहीं है पर उनके तस्वविजय, आदि शिष्यप्रशिष्योंका पता अन्य साधनोंसे चलता है जिसके वास्ते 'जैनगूर्जरकविओ' मा० २. पृ० २७ देखिए।

उपाध्यायजीके बाह्य जीवनकी स्थूल घटनाओंका जो संक्षित वर्णन ऊपर किया है, उसमें दो घटनाएँ खास मार्केकी हैं जिनके कारण उपाध्यायजीके आन्तरिक जीवनका स्रोत यहाँतक अन्तर्सुल होकर विकसित हुआ कि जिसके बल पर वे भारतीय साहित्यमें और खासकर जैन परम्परामें अमर हो गए। उनमेंसे पहली घटना अभ्यासके वास्ते काशी जानेकी और दूसरी न्याय आदि दर्शनोका मीलिक अभ्यास करने की है। उपाध्यायजी कितने ही बुद्धि व प्रतिभात्तमपत्र क्यों न होते उनके वास्ते गुजरात आदिमें अध्ययनकी सामग्री कितनी ही क्यों न जुटाई जाती, पर इसमें कोई संदेह ही नहीं कि अभ्यर काशीमें न आते तो उनका हास्त्रीय व दार्शनिक ज्ञान, जैसा उनके प्रन्थोंमें पाया जाता है, संभव न होता । काशीमें आकर भी व उस समय तक विकसित न्याय- आख खास करके नवीन न्याय-शास्त्रका पूरे वल्से अध्ययन न करते तो उन्होंने जैन-परभरा-को और तद्द्वारा भारतीय साहित्यको जैन विद्वान्त्री हैसियतसे जो अपूर्व मेंट दी है वह कभी संसब न होता ।

दसवी शताब्दीसे नवीन न्यायके विकासके साथ ही समझ वैदिक दर्शनोंमें ही नहीं बहिक समझ वैदिक साहित्वमें सुक्ष्म विद्रुष्ठण और तर्ककी एक नई दिशा प्रारम्भ हुई और उत्तरोग्गर अधिकसे अधिक विचारविकास होता चला जो अभी तक हो ही रहा है। इस नवीनन्यायकृत नन्य युगमें उपाध्यायबीके पहले भी अनेक देतान्वर दिगम्बर विद्वान् हुए जो बुद्धि-प्रतिभासम्पन्न होनेके अलावा जीवन भर शास्त्रयोगी मी रहे फिर भी हम देखते हैं कि उपाध्यायबीके पूर्ववर्ती किसी जैन विद्वान्ते जैन मन्तन्व्योका उत्तना सत्तर्क दार्श्वीनक विद्वान्ते जैन मन्तन्व्योका उत्तना सत्तर्क दार्श्वीनक विद्वान्ते काशीगमनमें और तन्युक्त सभी विद्वान्ते अग्मीर अध्ययनमें ही है। नवीनन्यायशास्त्रेक गम्पीर अध्ययनमें लि है। किस अधिक इस्त्रीनिक वृद्ध-प्रतिभासंस्कार इतना विकत्ति विद्वान विद्वान के अन्याससे उपाध्यायवीके सहस्त्र हुआ कि फिर उसमेंसे अनेक शास्त्रोंका निर्मण होने लगा। उपाध्यायवीके मन्योंकि निर्मणका निर्मित स्थान व समय देना अभी संमय नहीं। फिर भी इतना तो

अबस्य ही कहा जा सकता है कि उन्होंने अन्य जैन साषुओंकी तरह मन्दिरनिर्माण, मूर्तिमतिष्ठा, संपनिकालना आदि बहिर्धुल धर्मकार्योमें अपना मनोयोग न लगाकर अपना सारा जीवन जहाँ वे गये और जहाँ वे रहे वहीं एक मात्र शास्त्रोंके चिन्तन तथा नव्य-शास्त्रोंके निर्माण में लगा दिया।

उपाध्यायजीकी सब कृतियाँ उपरुक्य नहीं हैं। कुछ तो उपरुक्य हैं पर अधूरी। कुछ बिरुकुरु अनुपरुक्य हैं। फिर भी जो पूर्ण उपरुक्य हैं, वे ही किसी प्रसर वृद्धिशाली और प्रबल पुरुषार्थीके आजीवन अभ्यासके वास्ते पर्यात हैं। उनकी रूभ्य, अरूभ्य और अपूर्ण रूभ्य कृतियोंकी अभी तककी यादी अरुग दी जाती है जिसके देखने से ही यहां संक्षेपर्से किया जानेवाला उन कृतियोंका सामान्य वर्गीकरण व मुरुयाङ्कन पाठकोंके ध्यानमें आ सकेगा।

उपाध्यायजीकी कृतियाँ संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और हिंदी-मारवाड़ी इन चार भाषाओं में गद्यवद्ध, पद्मवद्ध और गद्य-पद्मवद्ध हैं। दार्शनिक ज्ञानका असली व व्यापक खज़ाना संस्कृत भाषामें होनेसे तथा उसके द्वारा ही सकल देशके सभी विद्वानोंके निकट अपने विचार उपस्थित करनेका संभव होनेसे उपाध्यायजीने संस्कृतमें तो लिखा ही, पर उन्होंने अपनी जैनपर-गराश्ची मुलसूत प्राकृत भाषाको गौण न समझा। इसीसे उन्होंने प्रत्नुतमें भी रचनाएँ कीं। संस्कृत-पाकृत नहीं जानने वाले और कम जानने वालों तक अपने विचार पहुँचानेके लिए उन्होंने तत्कालीन गुजराती भाषामें भी विविध रचनाएँ कीं। मौका पाकर कभी उन्होंने तिकालीन गुजराती भाषामें भी विविध रचनाएँ कीं। मौका पाकर कभी उन्होंने हिंदी-मारवाड़ीका भी आश्रय लिया।

विषयदृष्टिसे उपाध्यायजीका साहित्य सामान्य रूपसे आगमिक, तार्किक दो प्रकारका होनेपर मी विशेष रूपसे अनेक विषयावरूपनी हैं। उन्होंने कमंतत्त्व, आचार, चरित्र आदि अनेक आगमिक विषयों पर आगमिक शैलीसे मी लिखा है; और प्रमाण, प्रमेय, नय, मक्कल, मुक्ति, आरमा, योग आदि अनेक तार्किक विषयों पर भी तार्किकशैलीसे ख़ासकर नव्य तार्किकशैलीसे लिखा है। व्याकरण, काव्य, लन्द, अलक्कार, दर्शन आदि सभी तत्काल प्रसिद्ध शास्त्रीय विषयों पर उन्होंने कुल न कुल पर अति महत्त्वका लिखा ही है।

हैं जीते हिंहते उनकी कृतियाँ सण्डनास्मक भी हैं, प्रतिपादनास्मक भी हैं और समन्वयास्मक भी। जब वे सण्डन करते हैं तब पूरी गहराई तक पहुँचते हैं। प्रतिपादन उनका सुक्स और विश्वद हैं। वे जब योगशास्त्र या गीता आदिके तस्त्रीका जैनमन्त्रज्ञके साथ समन्वय करते हैं तब उनके गम्भीर चिन्तनका और आध्यास्मिक भावका पता चलता है। उनकी अनेक कृतियाँ किसी अन्यके प्रन्यकी व्याख्या न होकर मूल, टीका या दोनों रूपसे स्वतन्त्र ही हैं, जब कि अनेक कृतियाँ प्रसिद्ध पूर्वाचार्यों के प्रन्योंकी व्याख्या हिसी अन्यके उनकी व्याख्या विषयक उनकी व्याख्या है। उपाध्यायनी ये पक्षे जैन और श्रेताम्बर। फिर भी विद्या विषयक उनकी हिंह इतनी विशाल यी कि वह अपने सम्प्रदाय मात्रमें समा न सकी अत्तप्व उन्होंने पातझल योगसुत्रके ऊपर भी लिखा और अपनी तीन समालोचनाकी लक्ष्य दिशास्त्र राम्पराके स्क्षम-

प्रव तार्किकप्रवर विद्यानन्दके कठिनतर अष्टसहस्री नामक प्रन्यके ऊपर कठिनतम व्याख्या भी लिखी।

गुजराती और हिंदी—मारवाड़ीमें लिखी हुई उनकी कृतियोंका थोड़ा बहुत वाचन, पठन व प्रचार पहिले ही से रहा है; परंतु उनकी संस्कृत-पाकृत कृतियोंके अध्ययन-अध्यापनका नामो-निशान भी उनके जीवन कालसे लेकर २० वर्ष पहले तक देखनेमें नहीं आता । यही सबव है कि बाई सो वर्ष जितने कम और लास उपद्रवेंसि मुक्त इस मुरक्षित समयमें भी उनकी सब कृतियों मुरक्षित न रहीं । पठन-पाठन न होनेसे उनकी कृतियोंके उपर टीका टिप्पणी लिखे जानेका तो संभव रहा ही नहीं पर उनकी नकलें भी ठीक-ठीक प्रमाणमें होने न पाईँ। कुछ कृतियों तो ऐसी भी मिछ रही हैं कि जिनकों मिर्फ एक एक प्रति रहीं। संभव है ऐसी ही एक-एक नकल वाली अनेक कृतियों या तो उस हो गई, या किन्हीं अज्ञत स्थानोंमें तितर वितर हो गई हों। जो कुछ हो पर अब भी उपाध्यजीका जितना साहित्य रूप्य है उतने मात्रका ठीक-ठीक पूरी तैयारीके साथ अध्ययन किया जाय तो जैन परम्पराके चारों अनुयोग तथा आगमिक, तार्किक कोई विषय अज्ञात न रहेंगे।

उदयन और गक्क्षय जैसे मैथिल तार्किक पुक्तबेकि द्वारा जो नन्य तर्कशासका बीजा-रीपण व विकास प्रारम्भ हुआ और जिसका ज्यापक प्रभाव ज्याकरण, साहित्य, छन्द, विविध-दर्शन और धर्मशास्त्र पर पड़ा और जिसका ज्यापक प्रभाव व्याकरण, साहित्य, छन्द, विविध-दर्शन और धर्मशास्त्र पर पड़ा और जिसका उस विकाससे विश्वत सिर्फ दो सम्प्रदायका साहित्य रहा। जिनमेंसे बौद्ध साहित्यकी उस वृद्धिको पूर्तिका तो संभव ही न रहा था क्योंकि बारह्यों तैरहवी शताब्दीके वाद भारतवर्षमें बौद्ध विद्वानोंको परम्परा नाम मात्रको मी न रही इसिल्य वह वृद्धि उतनी नहीं असरती जितनी जैन साहित्यकी वह वृद्धि । क्योंकि जैनस्प्रदायके सैकड़ों ही नहीं बल्कि हजारों साधनसम्पन्न त्यागी व कुछ गृहस्य भारतवर्षके प्रायः सभी भागोंमें मौजूद रहे, जिनका ग्रुस्थ व जीवनव्यापी घ्येय शास्त्रचिन्तनके सिवाय और जुळ कहा ही नहीं जा सकता। इस जैन साहित्यकी कमीको दूर करने और अकेले हाथसे पूरी तरह दूर करनेका उज्ज्वल व स्थायी यश अगर किसी जैन विद्वानको है तो वह उपाध्याय यशोविजयजीको ही है ।

प्रन्य-प्पस्तुत अन्यके जैनतर्कभाषा इस नामकरणका तथा उसे रचनेकी करूपना उराज होनेका, उसके विभाग, प्रतिपाद्य विषयका चुनाव आदिका बोधपद व मनोरज्जक इति-हास है जो अवस्य ज्ञातव्य है।

जहाँ तक माल्स है इससे पता चलता है कि प्राचीन समयमें तर्कप्रधान दर्शन प्रत्योंके-चाहे वे वैदिक हों, बौद्ध हों या जैन हों-नाम 'न्याय'पदयुक्त हुआ करते थे। जैसे कि न्यायस्त्र, न्यायमाच्य, न्यायशर्तिक, न्यायसार, न्यायमञ्जरी, न्यायविन्दु, न्यायमुक्त, न्याया-बतार आदि। अगर प्रो० ट्यूचीका रखा हुआ 'तर्कशाक्ष' यह नाम असलमें सखा ही है या

<sup>9.</sup> Pre-Dinnag Buddhist Logic गत 'तर्कशाक्र' नामक प्रन्थ ।

प्रमाणसमुख्यवृत्तिमें निर्दिष्ट 'तर्कशाख' नाम सही है तो उस प्राचीन समयमें पाये जानेवाले न्यायशब्दयुक्त नामोंकी परम्पराका यह एक ही अपवाद है जिसमें कि न्याय शब्दके बदले तर्क शब्द हो। ऐसी परम्पराके होते हुए भी न्याय शब्दके स्थानमें 'तर्क' शब्द लगाकर तर्क-भाषा नाम रखनेवाले और उस नामसे धर्मकीर्त्तिकत न्यायबिन्दके पदार्थी पर ही एक प्रकरण लिखनेवाले बौद्ध विद्वान मोक्षाकर हैं. जो ब रहवीं शताब्दीके माने जाते हैं। मोक्षाकरकी इस तर्कभाषा कृतिका प्रभाव वैदिक विद्वान केशव मिश्र पर पढ़ा हुआ जान पड़ता है जिससे उन्होंने वैदिक परम्परानसारी अक्षपादके न्यायसूत्रका अवलम्बन लेकर अपना तर्कभाषा नामक मन्य तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दीमें रचा । मोक्षाकरका जगत्तल बौद्धविहार केशव मिश्रकी मिथिलासे बहुत दूर न होगा ऐसा जान पहुता है। उपाध्याय यशोबिजयजीने बौद्ध विद्वानकी और वैदिक विद्वानकी दोनों 'तर्कभाषाओं' को देखा तब उनकी मी इच्छा हुई कि एक ऐसी तर्कभाषा लिखी जानी चाहिए, जिसमें जैन मन्तव्योंका वर्णन हो। इसी इच्छासे मेरित होकर उन्होंने प्रस्तुत अन्य रचा और उसका केवल तर्कभाषा यह नाम न रखकर जैनतर्क-भाषा ऐसा नाम रखा। इसमें कोई संदेह नहीं कि उपाध्यायजीकी जैनतर्कभाषा रचनेकी करपनाका मूल उक्त दो तर्कभाषाओंके अवलोकनमें है । मोक्षाकरीय तर्कभाषाकी प्राचीन ताड-पत्रीय प्रति पाटणके भण्डारमें है जिससे जान पहला है कि मोक्षाकरीय तर्कभाषाका जैन भण्डारमें संग्रह तो उपाध्यायजीके पहिले ही हुआ होगा पर केशविमश्रीय तर्फभाषाके जैन भण्डारमें संग्रहीत होनेके विषयमें कळ भारपर्वक कहा नहीं जा सकता। संभव है जैन भण्डारमें उसका संग्रह सबसे पहिले उपाध्यायजीने ही किया हो क्योंकि इसकी भी विविध टीकायुक्त अनेक प्रतियाँ पाटण आदि अनेक स्थानोंके जैन साहित्यसंग्रहमें हैं।

मोक्षाकरीय तर्कभाषा तीन परिच्छेदों में विभक्त हैं जैसा कि उसका आधारभूत न्यायिबन्दु मी है। केशविभिश्रीय तर्कभाषामें ऐसे परिच्छेद विभाग नहीं हैं। अत्यव उपाध्यायजीकी जैनतर्कभाषाके तीन परिच्छेद करनेकी करूपनाका आधार मोक्षाकरीय तर्कभाषा है ऐसा कहना असंगत न होगा। जैनतर्कभाषाको रचनेकी, उसके नामकरणकी और उसके विभागकी करूपनाका इतिहास थोड़ा बहुत ज्ञात हुआ। पर अब प्रश्न यह है कि उन्होंने अपने प्रत्यका प्रतिपाध विषय चुना और उसे परिच्छेद में विभाजित किया उसका आधार कोई उनके सामने था या उन्होंने अपने आप ही विषयकी पसंदगी की और उसका परिच्छेद अनुसार विभाजन भी किया !। इस प्रश्नका उत्तर हमें महारक अकल्कृक्क व्यवस्थित अवलोकनसे मिलता है। उनके वायिस्त्रय जो मूल पश्चवद है और स्वीपज्ञविवरणपुक्त है उसके मुख्य-तया प्रतिपाध विषय तीन है—प्रमाण, नय और निश्चेष। उन्हीं तीन विषयोंको लेकर न्याय प्रस्थापक अकल्कृक्क तेता विभागमें व्यवस्थित्यको रचा जो तीन प्रवेशमें विभाजित हैं। बौद्ध—वैदिक दो तर्कभाषाओंके अनुकरणक्रपसे जैनतर्कभाषा चनानेकी उपाध्यायजीको हेल्ला हुई थी ही पर उन्हें प्रतिपाध विषयकी पसंदगी तथा उसके विभागके वास्त अकल्कृक्क कर्म दी स्थान विषय स्थान प्रस्थान प्रस्थान विषय स्थान स्थान स्थान विभागमें विभागके विभागके वास्त अकल्कृक्क करा नाम क्यान स्थान स्थान विभागके वास्त अकल्कृक्क करा नाम करायान स्थान स्थान विभागके विभागके स्थान स्थान विभागके वास्त अकल्कृक्क करायान स्थान स्थान स्थान स्थान विभागके विभागके वास्त अकल्कृक्ष स्थान स्थान स्थान स्थान स्थान विभागके विभागके वास्त अकल्कृक्ष स्थान स्थ

कि रुपीयस्त्रयमें ममाण, नय, और निक्षेपका वर्णन है पर वह प्राचीन होनेसे इस विकसित युगके वास्ते पर्याप्त नहीं है। इसी तरह शायद उन्होंने यह भी सोचा हो कि दिगम्यराचार्यक्रत रुपीयस्त्रय जैसा, पर नवयुगके अनुकूरु विशेषोंसे युक्त खेताम्बर परम्पराका भी एक प्रन्थ होना चाहिए। इसी इच्छा से भेरित होकर नामकरण आदिमें मोक्षाकर आदिका अनुसरण करते हुए भी उन्होंने विषयकी पसंदगीमें तथा उसके विभाजनमें जैनाचार्य अकरुक्कका ही अनुसरण किया।

उपाध्यायजीके पूर्ववर्ती इवेताम्बर-दिगम्बर अनेक आचार्योके तर्क विषयक म्रन्थ व प्रकरण प्रन्य हैं पर अकल्क्षके लगीयस्त्रयके सिवाय ऐसा कोई तर्क विषयक प्रन्य नहीं है जिसमें प्रमाण, नय और निव्रेष तीनोंका तार्किक दैलीसे एक साथ निरूपण हो। अतएव उपाध्यायजीकी विषय पसंदगीका आधार लगीयस्त्रय ही है इसमें तिनक मी संदेह नहीं रहता। इसके सिवाय उपाध्यायजीकी प्रस्तुत कृतिमें लगीयस्त्रयके अनेक वाक्य ज्योंके त्यों हैं जो उसके आधारत्वके अनुमानको और मी पुष्ट करते हैं।

बाह्यस्वरूपका थोड्डा सा इतिहास जान छेनेके बाद आन्तरिक स्वरूपका भी ऐतिहासिक वर्णन आवश्यक हैं । जैनतकं भाषाके विषयनिरूपणके मुख्य आधारमृत दो जैन मन्य हैं — सटीक विशेषवश्यकभाष्य और सटीक प्रमाणनयतस्वालोक । इसी तरह इसके निरूपणमें मुख्यतया आधारमृत दो न्याय मन्य भी हैं — कुमुमाञ्चलि और चिन्तामणि । इसके अलावा विषय निरूपणमें दिगानरीय न्यायदीपिकाका भी थोड़ा सा साक्षात् उपयोग अवश्य हुआ हैं । जेनतर्कमाणाके नयनिरूपण आदिके साथ ल्यायन्त्रय और तस्वार्थकोकवार्तिक आदिका शब्दशः साह्द्रय अधिक होनेसे यह प्रश्न होना स्वाभाविक हैं कि इसमें ल्यीयस्त्रय तथा तस्वार्थकोक-वार्षिकका साक्षात् उपयोग क्यों नहीं मानते, पर इसका जवाब यह हैं कि उपाध्यायजीने जैन-किभाषाके विषयनिरूपणमें वस्तुनः सटीक प्रमाणनयतस्वालोकका तार्किक प्रश्च स्थसे साक्षात् उपयोग क्या हैं । ल्यायस्त्रय, तस्वार्थकोकवार्णिक आदि दिगम्बरीय प्रश्चोक आधारसे सटीक प्रमाणनयतस्वालोककी रचना की वान्तेक कारण चैनतक्रमाणके साथ ल्यायस्त्रय और तस्वार्थ-इलेकका शाहिक अन्यस्त्रय और तस्वार्थ-इलेकका शाहिक अन्यस्त्र और तस्वार्थ-इलेकका शाहिक अन्यस्त्र और तस्वार्थ-इलेकका शाहिक अन्यस्त्र और तस्वार्थ-इलेकका शाहिक अन्यस्त्र और तस्वार्थ-इलेकका शाहिकका शाह्यस्त्रय और तस्वार्थ-इलेकका शाहिकका शाहिक स्वार्थ-इलेकका स्वार्थ-इलेकका स्वार्थ-इलेकका शाहिकका शाह्यस्त्रय और तस्वार्थ-इलेकका स्वार्थ-इलेकका स्वार्थ-इलेकका स्वार्थ-इलेकका स्वर्थ-इलेकका शाहिकका शाह्यस्त्रय और तस्वार्थ-इलेकका स्वर्थ-इलेकका शाहिकका शाह्यस्त्रय और तस्वार्थ-इलेक हार ही आया है, साक्षात् नहीं ।

मोक्षाकरने धर्मकीर्षिके न्यायबिन्दुको आधारम्त रखकर उसके कतिपय सुनेंकी व्याख्या
हरासे योड्डा बहुत अन्य अन्य शास्त्रार्थीय विषय पूर्ववर्ती बौद्ध मन्धोंने से लेकर अपनी नातिसंक्षिप्त नातिविस्तृत ऐसी पठनोपयोगी तर्कमाणा लिखी । केशव मिश्रने मी अक्षपादक प्रथम
सूत्रको आधार रख कर उसके निरूपणमें संक्षेप रूपसे नैयायिकसम्मत सोळ्ड्ड पदार्ध और
वैशेषिकसम्मत सात पदार्थोंका विवेचन किया । दोनोंने अपने अपने मन्तव्यकी सिद्धि करते
हुए तत्काळी विशेषी मन्तव्यक्ति भी वहाँ तहाँ लण्डन किया है । उपाध्यायजीने भी इसी
सराणीका अवल्यन करके जैनतर्कमाणा रची । उन्होंने ग्रस्थतया प्रमाणनयतत्त्वाळोकके सुने

को ही जहाँ संभव है आधार बनाकर उनकी ज्यास्या अपने दंगसे की है । व्याख्यामें खास
कर पश्चज्ञाननिरूपणके प्रसक्तमें सटीक विशेषाववयकमाध्यका ही अवल्यनन है । वाक्रीके
प्रमाण और नय निरूपणमें प्रमाणनयतत्त्वाळोककी व्यास्था—(स्नाकरका अवल्यनन है अधवा

यों कहना चाहिए कि पञ्चज्ञान और निवेषकी चर्चा तो विदेशावहयकभाष्य और उसकी इिफा संक्षेप मात्र है और परोक्ष प्रमाणांकी तथा नयोंकी चर्चा प्रमाणनयतत्त्वालोककी व्याख्या-रक्षाकरका संक्षेप हैं। उपाध्यायजी जैसे प्राचीन नदीन सकल दर्शनके बहुकृत विद्वात्की कृतिमें किताना ही संक्षेप क्यों न हो पर उसमें पूर्वपद्धा वा उत्तरपक्ष रूपसे किंवा वस्तुविक्रन्नेषण रूपसे क्रास्त्रीय विचारोंके अनेक रंग पूरे जानेके कारण यह संक्षिप्त प्रम्य मी एक महत्त्वकी कृति वन गया है। वस्तुतः जैनतर्कभाषा यह आगमिक तथा तार्किक पूर्ववर्ती जैन प्रमेयोंका किसी हद तक नव्यस्त्रायकी परिभाषामें विक्रनेषण है तथा उनका एक जगह संग्रह रूपसे संक्षिप्त पर विदाद वर्णन मात्र है।

प्रमाण और नयकी विचारपरम्परा इनेतान्वरीय ग्रन्थों समान है पर निक्षेपींकी चर्चा-परगरा उतनी समान नहीं । क्यीयस्त्रयमें जो निक्षेपिनरूपण है और उसकी विस्तृत व्याख्या कुन्धुरचन्द्रमें जो वर्णन है वह विरोपावस्यक भाष्यकी निक्षेप चर्चासे इतना भिन्न अवस्य है विससे यह कहा जा सके कि तत्त्वमें मेद न होने पर भी निक्षेपोंकी चर्चा दिगम्बर-स्वेताम्बर होनों परंपरामें किसी अंग्रमें भिन्नस्वरूपसे पुष्ट हुई, जैसा कि बीचकंड तथा चौथे कर्मग्रन्थके विषयके वारेमें कहा जा सकता है । उपाय्यजीन जैनतर्कभाषक बाह्यरूपकी रचनामें क्या-यस्त्रयका अवक्ष्यन ठिया जान पहता है, फिर भी उन्होंने अपनी निक्षेप चर्चा तो पूर्णतया विरोपावस्यक्रभाष्यके आधारसे ही की हैं।

तात्पर्यसंग्रहा वृत्ति — पटनपाटनका प्रचार न होनेके कारण जैनतर्कमाणाक ऊपर पिछसे भी कोई मुलानुरूप उपयुक्त व्यास्त्र्याकी रचना अवतक हुई न थी। पिछले तीन वर्षेति यह तर्कमाणा नगरस क्वीत्स कालेजके तथा हिन्दू युनिवर्सिटीके जैन अभ्यासक्रममें रखी गई और इसके अभ्यासी भी तैयार होने कगे। तब इसके सप्टीकरणका भरन विरोपरूपसे सामने आया। यों तो पचीस वर्षके पिहले जब मेरे सित्र पिछत भगवानदास—महाचीर जैन विचालस्य वंबईके धर्माध्यापकने इस तर्कमाणामेंसे कुछ मुझसे पूछा तथीसे इसकी ओर मेरा ध्यान गया ॥। इसके वाद भी इसपर थोड़ासा विचार करनेका तथा इसके गृद्ध मार्वोको स्पष्ट करनेका जब जब मर्नमा आया तव तब मनमें यह होता था कि इसके ऊपर एक अच्छी त्यास्त्र्या आवश्यक है। लम्बे समयकी इस भावना को कार्यमें परिणत करनेका अवसर तो इसके पाठ्यक्रमामें रखे जानेके बाद ही आया। जैनतर्कमाणाके पुनः छथानेके भश्नके साथ ही इसके ऊपर एक व्यास्त्र्या जिस्ती हो आया। जैनतर्कमाणाके पुनः छथानेके प्रस्तक साथ ही इसके अपर एक व्यास्त्र्या जिस्ती हो आया। जैनतर्कमाणाके पुनः छथानेके प्रस्तक साथ ही इसके अपर एक व्यास्त्र्या जिस्ती हो आया। जैनतर्कमाणाके पुनः छथानेके प्रस्तक साथ ही इसके अपर एक व्यास्त्र्या जिस्ति हो आया। जैनतर्कमाणाके पुनः छथानेके प्रस्ता कि इसपर व्यास्त्र्या जिस्ती ही आया। जीर अन्तर्में निर्णय किस कि इसपर व्यास्त्र्या जिस्ती ही आया। जीर अन्तर्में निर्णय किस कि इसपर व्यास्त्र्या जिस्ति ही आया।

अनेक मित्रोंकी खास कर पं० श्रीमान् जिनविजयजीकी इच्छा रही कि टीका संस्कृतमें ही खिला ठीक होगा। इसपर मेरे दोनों मित्र—पं० महेन्द्रकुमार—अध्यापक स्याद्वाद महाविद्यालय, बनारस तथा पं० दलसुल मालविणया—के साथ परामश किया कि व्याख्याका स्वरूप केसा हो !। अन्तमें हम तीनोंने टीकाका स्वरूप निश्चित कर तदनुसार ही जैनतर्क भाषाके ऊपर यह इति खिली, और इसका नाम तात्पर्यसंग्रहा रला। नामकी योजना अर्थानुरिणी होनेसे इसके पीछेका भाव बतला देना जरूरी है जिससे अध्याधी उसका मूल्य व उपयोग समझ सके।

इस ब्रिकी रचना दो दृष्टिओंसे हुई है-एक संग्रहदृष्टि और दूसरी तारफ्येंदृष्टि । जवाध्यायजीने जहाँ जहाँ विशेषावस्यक्रभाष्यके तथा प्रमाणनयतस्वालोकके पदार्थोंको लेकर जनपर उक्त हो ग्रन्थोंकी अतिविस्तत ज्याख्या मळधारिवत्ति तथा स्याहादरजाकरका अति संक्षेप करके अपनी चर्चा की है वहाँ उपाध्यायजीकत संक्षिप्त चर्चाके ऊपर अपनी ओरसे विशेष खुळासा या विशेष चर्चा करना इसकी अपेक्षा ऐसे स्थलोंमें उक्त मलधारिबरि तथा स्याद्वादरत्नाकरमेंसे आवश्यक भागोंका संग्रह करना हमने लाभदायक तथा विशेष उप-यक्त समझा. जिससे उपाध्यायजीकी संक्षिप्त चर्चाओंके मूल स्थानों का ऐतिहासिक दृष्टिसे पता भी चल जाय और वे संक्षिप्त चर्चाएँ उन मूल ग्रन्थोंके उपयुक्त अवतरणों द्वारा विशद भी हो जायँ. इसी आहायसे ऐसे स्थलोंमें अपनी ओरसे खास कछ न लिख कर आधारभत ब्रन्थोंमें से आवश्यक अवतरणोंका संग्रह ही इस क्लिमें किया गया है। यही हमारी संग्रह**दृष्टि** है। इस दृष्टिसे अवतरणोंका संग्रह करते समय यह वस्तु खास ध्यानमें रखी है कि अना-वश्यक विस्तार या पुनरुक्ति न हो। अतएव मरुधारिवृत्ति और स्याद्वादरत्नाकरमें से अवतरणोंको हेते समय बीच-बीचमें से बहत-सा भाग छोड़ भी दिया है। पर इस बातकी ओर ध्यान रखनेकी पूरी चेष्टा की है कि उस-उस स्थलमें तर्कमापाका मूल पूर्ण रूपेण स्पष्ट किया जाय । साथ ही अवतरणोंके मूल स्थानोंका परा निर्देश भी किया है जिससे विशेष जिज्ञास उन मुरु अन्थोंमें से भी उन चर्चाओं को देख सके।

उपाध्यायजी केवल परोपजीवी लेलक नहीं थे। इससे उन्होंने अनेक स्थलोंने पूर्ववर्षी जैन मन्धोंने प्रतिपादित विषयों पर अपने दार्श्वानिक एवं नज्यन्याय शास्त्रके अभ्यासका उपयोग करके थोड़ा बहुत नया भी लिला है। कई जगह तो उनका लेल बहुत संक्षिप्त और दुक्द है। कई जगह संक्षेप न होनेपर भी नज्यन्यायकी परिभाषाके कारण वह अत्यन्त किंटि हो गया है। जैन परंपरामें न्यायशास्त्रका लास करके नज्यन्यायशास्त्रका विशेष अनुशीलन न होनेसे ऐसे गुरूपित सी हो गई है। यह सोच कर ऐसे दुक्द तथा कठिन स्थलोंका ताय्यं इस इचिमें बतला देना यह भी कर्में उचित जान पड़ा। यही हमारी इस इचिको रचनाके पीछे तास्ययं हि है। इस हिक्के अनुतार हमने ऐसे स्थलों उपाध्यायजीक तक्तव्यक्त तास्ययं तो बतलाया ही है पर जहां तक हो सक्त उनके मयुक पर्दों तथा बाक्योंका अन्धार हमने ऐसे स्थलों उपाध्यायजीक तक्तव्यक्त तास्ययं तो बतलाया ही है पर जहां तक हो सक्त उनके मयुक पर्दों तथा बाक्योंका अन्धार हमने ऐसे स्थलों तथा बाक्योंका अन्धार हमने ऐसे स्थलों तथा बाक्योंका अन्धार हमने प्रस्ता हम अन्दार हमने प्रस्ता हम जाया बाक्योंका अन्धार हम हमें वाष्ट्रवार हम अन्दार हम जाया बाक्योंका स्थला हो जाय।

तात्पर्य बतलाते समय कहीं उत्थानिकार्में तो कहीं व्याख्यामें ऐतिहासिक दृष्टि रखकर उन अन्योंका सावतरण निर्देश भी कर दिया है जिनका भाव मनमें रखकर उपाध्यायजीके द्वारा किसे जानेकी हमारी समझ है और जिन अन्यों को देखकर विशेषार्थी उस-उस स्थानकी बातको और स्पष्टताके साथ समझ सके ।

इस तर्कभाषाका प्रतिपाध विषय ही सुक्ष्म है। तिस पर उपाध्यायजीकी सुक्ष्म विवेचना और उनकी यत्रतत्र नव्यन्याय परिभाषा इन सब कारणोंसे मूळ तर्कभाषा ऐसी सुगम नहीं जैसीकि साधारण अभ्यासी अपेक्षा रखे । संग्रह द्वारा या तार्यय वर्णन द्वारा तर्कभाषाको सरल बनानेका कितना ही प्रयत्न क्यों न किया गया हो, पर ऐसा कभी सम्भव नहीं है कि प्राचीन नवीन न्यायशास्त्रके और इतर दर्शनोंके अमुक निश्चित अभ्यासके सिवाय वह किसी तरह समझनेमें आ सके । मूल ग्रन्थ कितन हो तो उसकी सरल व्याख्या भी अन्ततो गरवा कितन ही रहती हैं। अतएव इस तार्त्यसंग्रहा ब्रुचिको कोई कितन समझे तब उसके वास्ते यह ज़रूरी हैं कि वह जैनतर्कभाषा मूल और इस नव्यवृत्तिको समझनेकी प्राथमिक तैयारी करनेके बाद ही इसे पटनेका विचार करें।

इस ब्रुचिका उक्त दो दृष्टियों के कारण तात्यर्थसंत्रहा ऐसा नाम रखा है पर इसमें एक विदेशवा अवदय ज्ञातच्य है। वह यह की जहाँ मुख्यम्बोंमेंसे अवतरणों के संग्रह ही मुख्यतया है वहां भी व्याख्येय भागका तात्य्य ऐसे संग्रहों के द्वारा स्पष्ट करनेकी दृष्टि रखी गई है और जहां अपनी ओरसे व्याख्येय करके व्याख्येय भागका तात्य्य वतलानेकी प्रधान दृष्टि रखी है वहां भी उस तात्य्यके आधारमृत जैन जैनेतर प्रन्योंका सूचन द्वारा संग्रह करनेका भी ध्यान रखा है।

प्रतिओंका परिचय — प्रस्तुत संस्करण तैयार करनेमें चार आदशोंका उपयोग किया गया है जिनमें तीन लिखित प्रतियां और एक छपी नकल समाबिष्ट हैं। छपी नकल तो वहीं हैं जो भावनगरस्थ जैनवर्भ प्रसारक सभा द्वारा प्रकाशित न्यायाचार्य श्री यशोषिजय कृत प्रम्थमालाके अन्तर्गत (ए० ११३ से ए० १३२) है। हमने इसका संकेत सुदितार्थ सुचक सु० रखा है। सुदित प्रति अधिकांश सं० प्रतिसे मिलती है।

रोष तीन हस्तलिखित मतिओंके प्र० सं० व० ऐसे संकेत हैं। प्र० संज्ञक मति प्रवर्तक श्रीमत् कान्तिविजयजीके पुस्तकसंग्रह की है। सं० और व० संज्ञक दो मतियां पाटन- यत संघके पुस्तक संग्रह की हैं। संघका यह संग्रह बस्तजीकी रोरीमें मौजूद हैं। अतएब एक ही संग्रह की दो मतिओंमेंने एकका संकेत सं० और दूसरीका संकेत व० रखा है। उक्त तीन मतिओंका परिचय संक्षेपमें कमशः इस मकार है।

प्र०—यह प्रति १७ पत्र परिमाण है। इसकी लमाई-चौड़ाई ९॥।४४। इख है। प्रत्येक पृष्ठमें १५ पंक्तियां हैं। प्रत्येक पंक्तिमें अक्षर संस्था ४९ से ५२ तक है। लिपि सुन्दर है। प्रति किसीके द्वारा संशोधित है और शुद्धमायः है। पन्ने चिपक जानेसे अक्षर थिसे हुए हैं फिर मी दुष्पठ नहीं हैं। किनारियों में दीमकका असर है। अन्तमें पुष्पिका है—वह इस प्रकार—

छ॰ सम्बत् १७३६ वर्षे आपादशुदि ८ श्रनौ टिने लिखित पं॰ मोहनदास पं॰ रविवर्द्धनपठनार्थ॰

सं॰—यह प्रति संघके भाण्डारगत डिब्बा नं० ४० में पोषी नं० २६ में है जो पोषी 'जैनतर्कभाषादि प्रकरण' इस नामसे अक्कित है। इस पोषीमें ४० से ५२ तकके पत्रोंमें तर्फमाषा है। इसकी रूमाई-चौड़ाई १०×था। इस्त्र है। मलेक पृक्षमें १७ पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्तिमें ४४ से ५५ तक अक्षर संख्या है। संशोधित और टिप्पण युक्त है। पानीसे मीगी हुई होनेपर मी लिपि विगड़ी नहीं है। जीर्णप्राय है। इसके अन्तमें पुष्पिका आदि कुछ नहीं है।

व ० — यह प्रति संघके भण्डारगत डिब्बा नं० २७ पोधी नं० २५ में मौजूद है। इसके २२ पत्र हैं। जिनमें हर एक पृष्ठमें पंक्ति १५–१५ और प्रत्येक पंक्तिमें २८–४० अक्षर संख्या है। इसकी रुम्बाई–चौड़ाई १०४४॥ ईख्व है।

आभारप्रदर्शन-प्रस्तुत संस्करणमें सर्वप्रथम सहायक होनेवाले वयोवृद्ध सम्मानार्ह प्रवर्तक श्रीमत कान्तिविजयजीके पशिष्य श्रद्धेय मुनि श्री पृण्यविजयजी हैं जिन्होंने न केवल लिखित सब प्रतियोंको देकर ही मदद की है बहिक उन प्रतियोंका मिलान करके पाठान्तर लेने और तत्सम्बन्धी अन्यान्य कार्यमें भी श्रुक्तसे अन्त तक परा समय और मनोयोग देकर मदद की है। मैं अपने मित्र पं० दलसाल मालवणियाके साथ ई० स० १९३५ के अप्रैल की ३० तारीखको पाटन इस कार्य निमित्त गया तभी श्रीमान् मुनि पुण्यविजयजीने अपना नियत और आवश्यक कार्य छोड़कर हम लोगोंको प्रस्तुत कार्यमें पूरा योग दिया। इतनी सरलतासे और त्वरासे उनकी मदद न मिलती तो अन्य सब सुविधाएँ होनेपर भी पस्तुत संस्करण आसानीसे इस तरह तैयार होने न पाता । अतएव सर्वप्रथम उक्त मतिश्रीके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मेरा प्राथमिक कर्तव्य है । तत्पश्चान में अपने विद्यागरु पं० वासकृषण मिश्र जो हिन्दू युनिवर्सिटी गत ओरिएण्टल कोलेजके प्रीन्सिपल हैं और जो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं, ख़ास न्याय और वेदान्तके मुख्य अध्यापक हैं उनके प्रति सबहमान कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ। यों तो भैं जो कुछ सोचता-बोलता-लिखता हूँ वह सब मेरे उक्त विद्यागुरुका ही अनुमह है पर प्रस्तुत तर्कभाषाके संस्करणमें उन्होंने मुझको खास मदद की है। जब इस तर्कभाषाके जपर वृत्ति लिखनेका विचार हवा और उसका तात्पर्य अंश मैंने लिखा तब मैं उस अंशको अपने उक्त विद्यागुरुजीको सुनाने पहुँचा । उन्होंने मेरे लिखित तारपर्यवाले भागको ध्यानसे सन हिया और यत्र तत्र परिमार्जन मी सुझाया जिसे मैंने सश्रद्ध स्वीकार कर लिया । इसके अलावा तात्पर्याश लिखते समय मी उन्होंने जब जब जरूरत हुई तब तब सुझको अनेक बार अपने परामर्शसे मोत्साहित और निःशक्त किया। उनकी सहज उदारता-पूर्ण और सदासुरुभ मददके सिवाय मैं इतने निःसंकोचल और आत्मविश्वासके साथ स्वतन्त्र भावसे ताल्पर्य वर्णन करनेमें कभी समर्थ न होता । अतएव में उनका न केवल कृतज्ञ ही हूँ पत्युत सदा ऋणी भी हूँ । इस जगह भैं अपने सखा एवं विद्यार्थी जिन्होंने प्रस्तुत पुस्तक छपते समय पूफ देखने आदिमें हार्दिक सहयोग किया है उनका भी आभारी हूँ। उनमेंसे पहिले मुनि कृष्णचन्द्रजी हैं जो पञ्जाब पश्चकुला जैनेन्द्र गुरुकुलके मृतपूर्व अधिष्ठाता हैं और सम्प्रति काशीमें जैन आगम और जैन तर्कके अभ्यासके अलावा आधुर्वेदका मी विशिष्ट अध्ययन करते हैं। उन्होंने अनेक बार अपने वैयाकरणस्व तथा तीक्ष्ण दृष्टिके द्वारा पृक

स्तरात्रात्त्राम् । ख्री प्रतानको किरामा सिक्तामा मार्था प्रयोग सिकामा । स्वतन्त्रात्त्रात्त्राम् । ख्री प्रतानको अस्तिमा स्वयः कृतिस्तर प्रतानको स्वयः अस्तिमा स्वयः कृतिस्तर स्वयः स्वयः

The state of the s

आय पत्र. क्षिक्रीक च्याक्रिय किसीय पार्श्वा

मिंघी जैन प्रन्यमात्रा

िजैन तर्कमाषा

मिंदी जैन ग्रन्थमाला

दाधिए। थः । एकं चेनुरानान्नानामादोको साचिताम् इत् त्युप्ति पाद संबंद्ध सम्पन्नाम् ताप्ता । मध्य सम्दारी । अपन्य रागमान्य माद्रिया । पात्रा प्राप्ता भारत् केन्द्र स्थाने स्थान्य स्थाने । सम्दारी । अपने साम्य स्थाने स्थाने सम्बन्धाना स्थाने सम्बन्धाना है । स्थाने स्थाने स्थाने स्थाने स्थाने स्थान मन्द्रम् मेथिनाजवद्यमिनित्त्वाद्योतनात्रमः। प्रत्यतिस्त्रमाय्यक्षममारिनीब्द्रव बामक्याऽस्माबत्बव्दर्श्वनम्माक्ष्याहित्विहित्राक्ष्याहित्विहित्याश्चित्रोत्र स्रोधेक्मग्रस्यादिविकितम्माहित्यहित्सम्। प्रहास्त्रमात्नास्त्रम्याद्रीयावतस्योह्सस्य १५सहित्यात्राम्मास्येहि मेमाज्यसम्माम्य एपमानिन शक्षमाननिक वसम्प्रवद्मवित्राम् जातः सधीः मास्यानम म् रिज्योक्तिमगरिदेवस्थातः पदान्तराहमाति कितासम्बर्धश्रमायमाहमकि स्थातमञ्ज्यान क्षिष्येतायं मिनखायक्षित्रयभारी १ रूपाये। यांनिःक्ष्यवर्षि होड् अभवीः त्रक्षर्भिष्ये क् इस्सिम्स इत्यक्षित्रम् CEG CIM BIS

अस्तिम एत्र. द्विताय पार्श्व।

संशोधनमें खास मदद पहुँचाई है। शेष दो व्यक्तियों मेंसे एक है पञ्जाव गुजरानवाला गुरुकुल का छात्र शांतिलाल जो काशीमे प्राचीन न्याय और बैनागमका अध्ययन करता है। दूसरा है मेबाड छोटी सादडी गोदावन गुरुकुलका छात्र महेन्द्रकुमार जो अभी काशीमें नव्य न्यायका अध्ययन करता है। इन दोनोंने जब चाहा तब निःसंकोचभावसे, क्या लिखनेमें, क्या मूफ आदि देखनेमें जहां ज़रूरत हुई उत्साहसे मदद की है। मैं इन तीनोंके हार्विक सहयोग का क्रवज हूँ।

विशिष्ट कृतज्ञता — संस्करणकी तैयारीसे लेकर उसके छप जाने तकमें सहयोगी होनेवाले समीका आभार पदर्शन कर लेनेपर भी एक विशिष्ट आभार प्रकट करना बाकी है और
वह है सिंघी सिरीजके प्राण-प्रतिष्ठाता श्रीमान् बान् बहादुर सिंह बी तथा पण्डित श्रीमान् बिनविजयजीका । इतिहास विशारद श्रीमान् जिनविजयजी ग्रुष्टको अनेक वर्ष पहिलेसे मसक्त पर कहा करते थे कि उपाध्यायजीके पाष्ट्रमञ्ज्ञांको टीकाटिप्पणी युक्त ग्रुचाक रूपसे तैयार करो जो इस समय बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे । उनका यह परामर्श्व ग्रुष्टको अनेक बार भेरित करता था पर में इसे कार्यकरमें अभी परिणत कर सका । उनका स्मिग्ध और उपयोगी परामर्श प्रथमसे अन्ततक बाल, न रहता तो सम्भव है मेरी प्रवृत्ति इस दिशामें न होती । इस कारणते तथा सिंघी सिरीजमें प्रस्तुत संस्करणको स्थान देना उन्होंने पसन्द किया इस कारणते में श्रीमान् पं विनिविजयजीका सविशेष कृतज्ञ हूँ । यह कहने की ज़रूरत ही नहीं कि काराज सोईज टाईप गेटअप आदिकी आख़िरी पसन्दर्गी योग्यता तथा सिरीजसधारकल्वके नाते उन्होंकी रही और इससे भी ग्रुसको एक आधारन ही मिला ।

श्रीमान् बाब् बहादुर्सिंहजी सिंधीके मित विशेष क्रवज्ञता प्रकाशित करना इसिक्ट उचित है कि उनकी सर्वागपूर्ण साहित्य प्रकाशित करनेकी अभिरूचि और तदनुक्तर उदारतामेंसे ही प्रस्तुत सिंधी सिरीजका जन्म हुआ है जिसमें कि प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशित हो रही है। विशिष्ट संस्करण तैयार व प्रकाशित करनेमें उपयोगी समी बाह्य साधन निःसंकोच मावसे अटानेकी सिरीजकी साधनसम्पत्ति प्राप्त न होती तो धैर्थपूर्वक इतना शान्तचिन्तन शायद ही सम्भव होता।

कार्यका प्रारम्भ, पर्यवसान और विभाजन — जगर सूचित किया गया है कि तर्कभाषाके प्रस्तुत संस्करणका बीजन्यास पाटनमें १९३५ मईके प्रारम्भमें किया गया। वहां
प्रतियोंसे पाटान्तर लेनेके साथ ही साथ उनकी शुद्धि-अशुद्धिके तरतम भावानुसार विवेक
करके वहीं पाटान्तरोंका प्रथक्करण और वर्गीकरण कर दिया गया। तदनन्तर अहमदाबादमें
उसी छुट्टीमें पुनः अर्थहिष्टिसे प्रत्यका चिन्तन कर उन प्रथक्कृत और वर्गीकृत पाटान्तरोंको
यथायोग्य मूळ वाचनामें या नीचे पादटीकामें रख दिया। इसके बाद वह कार्य स्थिगत
रहा जो किर ई० स० १९३६ के वर्षाकालमें काशीमें शुरू किया गया। उस वक्त सुख्य
काम अवतरणोंके संमदका हुआ जिसके अधार पर ई० स० १९३७ के आरम्भमें तर्कभाषाकी
एषिके दोनों तास्पर्य और संमद अंश तैयार हुए। और उसी समय सारा मैटर मेसमें गया

जो १९३८ के प्रारम्भमें ही क्रमझः छप कर तैयार हो गया। इस तरह इस छोटेसे मूल और इचि प्रस्थते मी करीब पौनेतीन वर्ष ले लिए।

जब कोई छोटा बड़ा काम सम्भूयकारितासे ख़ासकर अनेक व्यक्तियोंके द्वारा सिद्ध करना हो तब उस कार्यके विविध हिस्सोंका विभाग करके व्यक्तिवार बांट लेना ज़रूरी होता है। इस नियमके अनुसार प्रस्तुत संस्करणका कार्यविभाग हम छोगोंने कर लिया। जिसका परिज्ञान अनेक सम्भूयकारी व्यक्तियोंको उपयोगी होगा। इस दृष्टिसे उस विभाजनका यहां संक्षेपमें वर्णन करना प्रस्तुत होगा।

कार्यविभावनका मूळ सिद्धान्त यह है कि जो जिस अंशको अधिक सरळतासे, विशेष पूर्णतासे और विशेष सुवार रूपसे करनेका अधिकारी हो उसे वह अंश सुख्यतया करनेको सौंपा जाय । दूसरा सिद्धान्त यह मी है कि समूह गत अन्य व्यक्तियाँ मी अपने-अपने अपिरिवत अरूपपिरिवत या अरूप अन्यस्त अंशोंको भी दूसरे सहचारियोंके अनुभव व कौशळसे ठीक-ठीक सीस कें और अन्तमें सभी सब अंशोंको परिपूर्णतया सम्पादित करनेके अधिकारी हो जायाँ। इन दो सिद्धान्तोंके आधार पर हम तीनोंने अपना-अपना कार्यप्रदेश सुख्यरूपसे सिंधर कर किया। यों तो विसी एकका कोई ऐसा कार्य न या जिसे दूसरे देखते न हों। पर कार्यविभाग जवाबदेही और सुख्यताकी दृष्टिसे किया गया।

मेरे जिम्मे मूळ प्रत्यकी पाठ शुद्धि तथा लिये गए पाठान्तरींका शुद्धाशुद्धत्वविवेक-ये दो काम रहे । और संगृहीत अवतरणींके आधारसे तथा स्वानुभवसे नई वृत्ति लिखनेका काम भी मेरे जिम्मे रहा ।

टीका व्हिलनेमें उपयोगी होनेवाले तथा तुलनामें उपयोगी होनेवाले समप्र अवतरणों के संग्रहका कार्यभार पं० महेन्द्रकुमारजीके उपर रहा । कमी-कभी जरूरतके अनुसार भेरा पृष्क और भैरद देखनेका कार्य भी उनके उपर आता ही रहा । पर संगृहीत सभी अवतरणोंकी या मवीन व्हिलित टीकाकी आख़िरी काट छांट करके उसे भेस योग्य अन्तिमक्ष्प देनेका तथा अथितिसम्प्र मुक्तोंको देखनेका एवं मुलके नीचे दी हुई तुलना, विषयानुक्रम, परिशिष्ट आदि बाक्रोंके सब कार्मोंका भार पं० दलसुखबीके उपर रहा ।

अन्तर्मे में यह सत्य मगट कर देना उचित समझता हूं कि मेरे दोनों सह्दय सहकारी मित्र अपनी धीर कुशङतासे मेरा उपयोग न करते तो में अपनी नितान्त परतन्त्र स्थितिमें कुछ भी करनेमें असमर्थ था। अतएव अगर इस नये संस्करणकी थोड़ी भी उपयोगिता सिद्ध हो तो उसका सर्योश श्रेय मेरे दोनों सहकारी सित्रोंको है।

सुखलाल संघवी

### महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयविरचित घन्थों की सूची।

	लभ्य ग्रन्थ	३९ समीकापादर्वनाथस्तोत्रम् ।
,	अध्यातममतपरीक्षा (स्वीपज्ञदीका)	४० बादिजिनस्तवनम्, विजयप्रभस्रिस्वाध्यायः
	अध्यासमसारः	गोडीपादवैनाधस्तोत्रादिः, द्रव्यपर्याययुक्तिः
	अध्यारमोपनिषव	इस्यादि ।
8	भनेकान्त <b>व्यवस्था</b>	अपूर्णलभ्य ग्रन्थ
ų	भाष्यारिमकमनदलनम् (स्वोपज्ञटीका )	१ अस्युश्चद्गतिबादः
٤	आराधकविराधकचतुर्भङ्गी ( " )	२ उत्पाद व्यय-भ्रोध्यसिद्धिटीका
9	अष्टसहस्रीविवरणम्	३ कम्ब्रकृतिकघुरुतिः
e	उपदेशशहस्यम् ( " )	४ क्षरप्रान्तविश्वदीकरणम्
٩	पेन्द्रस्तुतिचतुर्विशतिका ( " )	५ ज्ञानार्णंबः सटीकः
90	कर्मप्रकृतिटीका	६ तिस्न्तास्वयोक्तिः
33	गुरुतश्वविनिद्ययः	७ तत्वार्थरीका
12	ज्ञानविन्दुः	
33	ज्ञानसारः	अलम्य ग्रन्थ
18	जैनतर्कभाषा	१ अध्यातमोपदेशः
14	देवधर्मं परीक्षा	२ अस्टक्कारचूडामणिटीका
3 5	हात्रिशन्द्वात्रिशिका (,, )	३ अनेकान्सप्रवेशः
30	धर्मपरीक्षा ( ,, )	४ आत्मस्यातिः
16	धर्मसंब्रहटिप्यनम्	५ आक्रम्भः (१)
	नयप्रदीपः (")	६ कान्यप्रकासदीका
₹0	नयोपदेशः ( स्वोपज्ञनयामृततरंगिणी टीका )	<ul><li>ज्ञानसारावचूिकः</li></ul>
٩1	नयरहस्यम्	८ छन्दरम्हामणिः
₹ <b>?</b>	निशाभ <del>क्त</del> प्रकरणम्	९ तस्वाक्षोकस्वोपङ्गविवरणम्
२३	न्यायखण्डखाचम्-वीरस्तवः ( स्वोपज्ञटीका )	१० त्रिस्म्याळोकः
१४	न्यायालो <b>कः</b>	११ द्रव्यालोकस्वोपक्तविवरणम्
	परमात्मपञ्जविद्यातिका	१२ न्यायविन्दुः
२६	परमञ्योतिपञ्जविश्वतिका	१३ प्रमाणरहस्यम्
	पात अलयोगदर्शनविवरणम्	१४ मंगलवादः
₹6	प्रतिमाशतकम् ( " )	१५ उताद्वयम्
२९	भाषारहस्यम् ( " )	१६ बादमाका
₹•	मार्गपरिश्चद्धिः	१७ बादार्णवः
11	यतिरुक्षणसमुचयः	१८ वादरहस्यम्
<b>३</b> २	योगविद्याकाटीका	१९ विभिवादः
33	वैशायकवपळता	२० वेदान्सनिर्णयः
18	योगदीपिका ( वोडशक्बृत्तिः )	२१ शटपकरणस्
14	सामाचारीप्रकरणम् ( स्वोपज्ञटीका )	२२ सिद्धान्ततर्केपरिष्कारः
14	स्याद्वादकस्पळता ( शास्त्रवार्तासमुखयटीका )	२३ सिद्धान्तमअसीटीका
₹ ७	<b>स्तोत्रा</b> विकः	२४ स्याद्वादरहःवम्
36	संखेदवर्यादर्वनाथस्तोत्रम् ।	२५ स्याद्वादमञ्जुषा (स्याद्वमअरीटीका)

### विषयानुक्रमः ।

विषयः					ट्रहम
जैनतर्कभाषा	•••	•••	***	•••	3-50
१. प्रमाणपरिच्छेदः		•••	•••		१-२१
१. प्रमाणसामान्यस्य रुझगरि		•••			1
२, प्रत्यक्षं सक्षयित्वा सांव्यवह	ति हन्यारमारि	वेकत्वाभ्यां तद्वि	भजनम्	•••	•
<ol> <li>सांध्यवद्दारिकप्रस्यक्षस्य नि</li> </ol>	रूपणम्, मति	अुतयोर्वि <b>वे</b> क् <b>ध</b>	***	•••	2
४. मतिज्ञानस्य भवप्रहादिभेदे	•••	•••			
५. व्यक्तनावग्रहस्य चातुर्विध्यः	•••	3			
६, अर्थावप्रहस्य निरूपणम्	•••	***	•••	***	8
७. ईहावायधारणानां क्रमशो ा		•••	•••	•••	ч
८. अतुल्लानं चतुर्दशघा विभज्य तस्त्रिहरप		***	***	***	9
९. पारमाधिकं प्रत्यक्षं त्रिया वि	वेभज्य प्रथमम	<b>बधेर्निरूपणम्</b>	•••	•••	•
१०. मनःपर्यवज्ञानस्य निरूपणः	Ę	•••	•••	•••	c
11. केवलज्ञातस्य निरूपणम्	***		•••	***	6
१२. परोक्षं लक्षयित्वा पञ्चधा वि	वेभज्य च स्मृतं	तिं रूपणम्	•••	•••	6
18. प्रत्यभिज्ञानस्य निरूपणम्		***	***	•••	٩
18. तर्कस्य निरूपणम्	•••	•••	•••	•••	30
१५. अनुमानं हेथा विभज्य स्व	ार्थानुमानस्य स	<b>इक्षणम्</b>	•••	•••	9 ₹
१६. हेतुस्वरूपचर्चा			•••	***	9 २
१७. साध्यस्वरूपवर्चा		•••	•••	•••	12
१८. परार्थानुमानस्य प्रतिपादनः	<b>Ψ</b>	•••		***	3 45
१९. हेतुप्रकाराणामुपदर्शनम्		•••	***	•••	9 &
२०. हेरवाभासनिरूपणम्	•••	•••		***	16
२१. आगमप्रमाणनिरूपणम्	•••	•••	•••		19
२२. सप्तभक्तीस्वरूपचर्चा		•••	•••	***	18
२. नयपरिच्छेदः	•••	***	***	***	२१-२४
<ol> <li>नयानां स्वरूपनिरूपणम्</li> </ol>	***	•••	•••	•••	23
२. नयाभासानौ निरूपणम्	•••	***	•••	***	२४
३. निश्लेपपरिच्छेदः	***	***	***	•••	२,५–२९
१. नामादिनिःक्षेपनिरूपणम्	***	•••		***	२५
२. निःक्षेपाणां नयेषु योजना	•••	***	•••	•••	२७
३. जीवविषये निःक्षेपाः	***	•••	***		<b>1</b> 0
प्रशस्तः	•••	•••	•••	***	२८
तात्पर्यसंग्रहा वृत्तिः	•••	•••	•••	***	३१-६५
परिशिष्टानि	•••	***			ee.e3
१. जैनतर्कभाषागतानां विशेषन	कां स्वी		•••		•
२. जैनतकभाषागतानां पारिभा	… ्र्ना पिकझस्टा⊐ां	ਸ਼ਚੀ	•••	•••	६७
३. जैनतक्भाषागतानाम्बतरणानां स्वी			***	•••	६८ ७६
४. तात्पर्यसंप्रहवृश्यन्तर्गतानां f	वशेपनाम्रां स	ৰেণি	•••	•••	હફ હફ
४. शदिपत्रकम		s. * *	***	•••	34

#### महोपाध्यायश्रीयशोविजयकृता

# ॥ जैन तर्कभाषा॥

### १. प्रमाणपरिच्छेदः ।

ऐन्द्रष्टन्द्नतं नत्वा जिनं तस्वार्धदेशिनम् । प्रमाणनयनिश्चेपैस्तर्कभाषां तनोम्यहम् ॥

[ १. प्रमाणसामान्यस्य लक्षणनिरूपणम् । ]

\$ १. तत्र-स्वपस्यसायि ज्ञानं प्रमाणंम्-स्वैम् आत्मा ज्ञानस्येव स्वरूपित्यथः, परः तस्माद्द्योऽथं इति यावत्, तौ व्यवस्यति यथास्थितत्वेन निश्चिनोतित्येवंशीलं स्वपस्यवयसायि । अत्र दर्शनेऽतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानपदम् । संग्रयविषयेयानध्यवसायेषु तद्वारणाय व्यवसायिपदम् । परोश्चवुद्ध्यादिवादिनां सीमांसकादीनाम्,
बाह्यार्थापलापिनां ज्ञानाद्यद्वैतवादिनां च मतनिरासाय स्वपरेति स्वरूपविशेषणार्थयुक्तम् ।
नतु यद्येतं सम्यग्ज्ञानमेव प्रमाणमिष्यते तदा किमन्यत् तत्फलं वाच्यमिति चेत्;
सत्यम्; स्वार्थव्यवसितेरेव तत्फलस्वात् । नन्वेतं प्रमाणं स्वपरव्यवसायित्वं न स्यात्, 10
प्रमाणस्य परव्यवसायित्वात् फलस्य च स्वव्यवसायित्वादिति चेत्; न;प्रमाण-फलयोः
कथित्रदेन तदुषपत्तेः । इत्यं चात्मव्यापारस्यप्रयोगोन्द्रयमेव प्रमाणमिति स्थितम्;
नं द्वाव्यापृत आत्मा स्पर्शादिप्रकाशको भवति, निव्यापारेण कारकेण क्रियाजननायोगात्, मस्णत्तुलिकादिसिक्तक्षेण सुपुप्तस्यापि तत्त्रसङ्गाच ।

§ २. केचित्तु−

15

"ततोऽर्घग्रहणाकारा शक्तिक्ञीनिमहात्मनः। करणत्वेन निर्दिष्टा न विरुद्धा कथश्रन॥१॥" [तत्त्वार्थश्लोकवा०१.१.२२]

इति-लब्धीन्द्रियमेवार्थग्रहणशक्तिलक्षणं प्रमाणं सङ्गिरन्तेः तदपेशलम् ; उपयोगात्मना

करणेन लन्धेः फले व्यवधानात् , श्वकीनां परोश्वत्वास्युपगमेन करण फलज्ञानयोः परोश्व-प्रत्यक्षत्वास्युपगमे प्रामाकरमतप्रवेशाच । अब ज्ञानशक्तिरप्यात्मनि स्वाश्रये परिच्छिषे द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षेति न दोप इति चेत् ; नः द्रव्यद्वारा प्रत्यक्षत्वेन सुखादिवत् स्वसंवि-दितत्वाव्यवस्थितेः, 'ज्ञानेन घटं जानामि' इति करणोक्षेत्वानुपपत्तेत्र ; न हि कलग्र-5 समाकलन्वेलायां द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षाणामपि कश्चकक्षपालादीनाम्रक्षेत्रोऽस्तीति ।

#### िर, प्रत्यक्षं स्क्षायित्वा सांव्यवहारिक-पारमार्थिकत्वाभ्यां तद्विभजनम् । ]

- § २. तत् हिमेदम्-प्रत्यक्षम् , परोधं चं । अक्षम् इन्द्रियं प्रतिगतम् कार्यस्वे नाश्रितं प्रत्यक्षम् , अथवाऽस्तुते झानात्मना सर्वार्थात् च्यामोतीत्योणादिकनिपातनात् अक्षो जीवः तं प्रतिगतं प्रत्यक्षम् । न चैवमवध्यादौ मत्यादौ च प्रत्यक्षस्यपदेशो न 10 स्वादिति वाच्यम् ; यतो च्युत्यत्तिनिमित्तमेवैतत् ,प्रश्चिनिमित्तं तु एकार्थसमवायिनाऽ-नेनोपलक्षितं स्वटतावस्वमिति । स्यर्टता चात्रुमानादिभ्योऽतिरेकेण विशेषप्रकाशनमि-स्वदोषः । अक्षेभ्योऽक्षाद्वा परतो वर्तत इति परोक्षम् , अस्यर्ट झानमित्वर्थः ।
- § ४. प्रैत्यक्षं द्विविधम्-सांव्यवहारिकम्, पारमार्थिकं चेति । समीचीनो बाधारिहतो व्यवहारः प्रवृत्तिनिवृत्तिकोकाभिलायलक्षणः संव्यवहारः, तत्प्रयोजनकं सांव्यव15 हारिकम् अपारमार्थिकमित्यर्थः, यथा अस्मदादिप्रत्यक्षम् । तद्वीन्द्रियानिन्द्रियव्यवहितात्मव्यापारसम्पाधन्वात्परमार्थतः परोक्षमेव, धूमान् अभिज्ञानवद् व्यवधानाविद्येषात् ।

  किञ्च, असिद्धानैकान्तिकविरुद्धानुमानामासवत् संग्रयविपर्ययानध्यवस्यसम्भवान्,

  सदनुमानवत् सङ्केतस्मरणादिप्रवैकनिश्रयसम्भवाच परमार्थतः परोक्षमेवैतत् ।

## [ ३. सांव्यवहारिकप्रत्यक्षस्य निरूपणम्, मतिश्रुतयोविंवेकश्च । ]

20 ६५. एतंच द्विविधम्-इन्द्रियजम्, अनिन्द्रियजं च । तत्रेन्द्रियजं चक्षुतादिः जितवम्, अनिन्द्रियजं च मनोजन्म । यद्यपीन्द्रियजं च । तत्रेन्द्रियः च मनोजन्म । यद्यपीन्द्रियज्ञानेऽि मनो व्यापिपितः तथापि तत्रेन्द्रियः मनोनिमित्तं अतानम्सारि झानं मितज्ञानम्, अतानुसारि च अतज्ञानम् । अतानुसारित्वं च-सङ्क्ष्णविषयपरोपदेशं अतुग्रन्थं वाऽजुमृत्य वाच्यवाचकमावेन संयोज्य 'धटो थटः' इत्यावन्त्रकं पा (अत्या) अतात्राहित्वम् । नन्वेवमवग्रह एव मित्रज्ञानं स्याभ त्वीहादयः, तेषां जन्देशेखसहित्वेन श्रुतन्त्रभाङ्गिति चेत् ; नः श्रुतनिश्चिताना-मप्यग्रहादीनां सङ्केतकाले श्रुतानुसारित्वेऽपि न्यवहारकाले तदननुसारित्वात् , अभ्या-सप्तरववशेन श्रुतानुसापन्तरोणापि विकल्परम्परापूर्वकविविधवचनप्रवृत्तिद्याना । अङ्गीपाङ्गादी श्रुतानुसापन्तरोणापि विकल्परम्परापूर्वकविविधवचनप्रवृत्तिद्यात् । अङ्गीपाङ्गादी अव्दावस्त्रप्रकृति च श्रुतानुसारित्वान्त्रस्तित्वस्य प्रस्त तत्र श्रुतानुसारी अल्दावस्त्रम् अतानुसारित्वान्त्रस्ति वित्वमेन, यस्तु तत्र श्रुतानुसारी अल्दावस्त्रम् ॥ श्रुताननुसारित्वान्त्रमेन, यस्तु तत्र श्रुतानुसारी

रै तुलना-प्र. म २०१.। २ तुलना-प्र. न. २, ३०। ३ तुलना-प्र. न. २०४०। ४ तुलना-प्र. न. २, ५.।

## [ ४. मतिक्कानस्य अवग्रहादिभेदेन चातुर्विध्यप्रकटनम् । ]

§ ६. मित्रज्ञानम्-अवप्रदेशपायधारणामेदाणतुर्विषम् । अवकृष्टो ग्रहः-अव-ग्रहः। से द्विषधः-व्यञ्जनावग्रहः, अर्थावग्रह्य । व्यव्यते प्रकटीक्रियतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनम्-कदम्बपुण्यगोलकादिरूपाणामन्तर्निर्वृत्तीन्द्रियाणां श्रव्दादिविषयपरिच्छेदहेतुः शक्तिविशेषत्रभणप्रमुकरणोन्द्रियम्, श्रव्दादिपरिणतद्रन्यिनिङ्गुरुम्बम्, तदुभयसम्बन्धश्च । 5 ततो व्यञ्जनेन व्यञ्जनस्यावग्रहो व्यञ्जनावग्रह् हति मध्यमपदलीपी समासः । अथ अञ्जानम् अयं विधारदीनां श्रोत्रश्चदादिसम्बन्धवत् तत्काले झानानुपलम्मादिति चेत्; नः झानोपादानत्वेन तत्र झानत्वोपवारान्, अन्तेऽर्थावग्रह्मपञ्चानदर्श्वनेन तत्कालेऽपि चेष्टाविशेषायनुमेयस्वमञ्जानादितुल्याव्यक्तञ्चानानुमानाद्वा एकतेजोऽवयववन् तस्य तत्रु-स्वेनानुपल्श्वणात् ।

[ ५, व्यञ्जनावप्रहस्य चातुर्विध्यप्रदर्शने मनअश्चिषोरप्राप्यकारित्वसमर्थनम् । ]

६७. से च नयन मनोवर्जेन्द्रियमेदाचत्र्धा, नयन मनसोरप्राप्यकारित्वेन व्य खनावग्रहासिद्धेः, अन्यथा तयोर्ज्ञेयकृतानुग्रहोपघातपात्रत्वे जलानलदर्शन-चिन्तनयोः क्रेंद-दाहापत्तेः। रवि-चन्द्रायवलोकने चक्षपोऽनुग्रहोपघातौ दृष्टावेवेति चेतः नः प्रथ-मावलोकनसमये तददर्शनातु , अनवरतावलोकने च प्राप्तेन रविकिरणादिनोपघातस्या- 15 (स्य), नैसर्गिकसीस्यादिगणे चन्दादी चावलोकिते उपधाताभावादनग्रहाभिमानस्योप-पत्तः। मृतनष्टादिवस्तचिन्तने, इष्टसङ्गमविभवलामादिचिन्तने च जायमानी दौर्बल्योरः-क्षतादि-वदनविकासरोमाञ्चोद्रमादिलिङ्गकावयघातात्रग्रही न मनसः, किन्त मनस्वपरि-णतानिष्टेष्टपदलनिचयरूपद्रव्यमनोऽवष्टम्भेन हिम्रुद्धवायभेषज्ञास्यामिव जीवस्यैवेति न ताम्यां मनसः प्राप्यकारित्वसिद्धिः । नज् यदि मनो विषयं प्राप्य न परिच्छिन्ति तदा २०० कथं प्रसप्तस्य 'मेर्वादी गतं मे मनः' इति प्रत्यय इति चेतः नः मेर्वादी शरीरस्येव मनसी गमनस्वमस्यासत्यत्वातः, अन्यथा विश्वद्धस्य क्रसमपरिमलाद्यध्वजनितपरिश्रमाः द्युत्रप्रहोप्पात्रप्रङ्गात्। नुत् स्वमातुभूतजिनस्नात्रदर्शनः समीहितार्थालाभयोरनग्रहोप्पातौ विवध(ड)स्य सती दृश्येते एवेति चेत ; दृश्येतां स्वमविज्ञानकृती ती, स्वमविज्ञानकृतं क्रि-याफुलं त तप्त्यादिकं नास्ति, यतो विषयप्राप्तिरूपा प्राप्यकारिता मनसो युज्येतेति ब्रमः। 25 क्रियाफलमपि स्वप्ने व्यञ्जनविसर्गलक्षणं दृश्यत एवेति चेत् ; तत् तीवाध्यवसायकृतम् , न त कामिनीनिधवनिकयाकृतमिति को दोषः १ नन स्त्यानधिनिदोदये गीतादिकं शण्वतो व्यञ्जनावग्रहो मनसोऽपि भवतीति चेतः नः तदा स्वमाभिमानिनोऽपि श्रवः णाद्यवग्रहेणैवोपपत्तेः । नत् "'च्यवमानो न जानाति" इत्यादिवचनात् सर्वस्यापि छग्न-स्थोपयोगस्यासङ्ख्येयसमयमानत्वात् , प्रतिसमयं च मनोद्रव्याणां ग्रहणात् विषयमस- 30 स्त्राप्रस्थापि मनसा देहादैनिर्गतस्य तस्य चै स्वसन्निहितहदयादिचिन्तनवैलायां कथं

१ अवगरः। १ व्यंजनावगरः। ३ आज्ञार्षे तृतीयपुरुषद्विवनम्-सम्पा०। 😝 ''जुरस्यामिति जाणह जुएभिति जाणह नयमाणे न याणह सुदुने यं से काले पक्षते।''-आवा । २,१७६। ५ देहानिर्ग०-सं०। १ तस्य स्व०-प्र० व०।

व्यञ्जनावप्रहो न भवतीति चेत्; मृष्णुः प्रहणं हि सनः, न तु प्राक्षम् । प्राध्वस्तुप्रहणे चं व्यञ्जनावप्रहो भवतीति न मनोद्रव्यप्रहणे तद्वकाद्यः; सिन्नहितहृद्यादिदेशप्रह-केलायामिष नेतद्वकाद्यः, बाह्यार्थापेश्वयैव प्राप्यकारित्वाप्राप्यकारित्वव्यवस्थानात् , श्वयोपद्यमपाटवेन मनसः प्रथममर्थानुपलन्धिकालासम्भवाद्यः, श्रोत्रादीन्द्रियव्यापार-कालेऽपि मनोव्यापारस्य व्यञ्जनावप्रहोत्तरमेवास्युप्यमात् , 'मनुतेऽर्थान् मन्यन्तेऽर्थाः अनेनिति वा मनः' इति मनःशब्दर्यान्वर्थत्वात्, अर्थमापणं विना भाषाया इव अर्थ-मननं विना मनसोऽप्रवृत्येः। तदेवं नयनमनसोनं व्यञ्जनावप्रह इति स्थितम् ।

#### [ ६. अर्थावग्रहस्य निरूपणम् ।]

६८, स्वरूपनामजातिकियागुणद्रव्यकल्पनारहितं सामान्यग्रहणम् अर्थावग्रहः । 10 कथं तर्हि 'तेन बन्द इत्यवगृहीतः' इति सूत्रार्थः, तत्र बन्दाबुल्लेखराहित्याभावादिति चेत: नः 'शब्दः' इति वक्त्रैव भणनात्, रूपरसादिविशेषव्यावृत्त्यनवधारणपरत्वाद्वा । यदि च 'शब्दोऽयम्' इत्यध्यवसायोऽत्रग्रहे भवेत तदा शब्दोक्षेत्रस्यान्तर्ग्रहिचिकत्वादर्था-वग्रहस्यैकसामा(म)यिकत्वं भज्येत । स्वान्मतम्-'श्रन्दोऽयम्' इति सामान्यविशेषग्रहणम-प्यर्थावग्रह इष्यताम् , तदुत्तरम्-'प्रायो माधुर्यादयः श्रृङ्खश्चन्द्रधर्मा इह, न तु शार्ङ्गधर्माः 15 खरककेशत्वादयः' इतीहोत्पत्तेः-इतिः मैनम् ; अशब्दच्यावृत्त्या विशेषप्रतिभासेनास्या∙ ऽपायत्वात स्तोकग्रहणस्योत्तरोत्तरभेदापेक्षयाऽच्यवस्थितत्वात । किञ्च, 'शब्दोऽयम्' इति ज्ञान(नं) शब्दगतान्वयधर्मेषु ह्यादिव्यावृत्तिपर्यालोचनहृपामीहां विनाऽनुप्यनम् . सा च नागृहीतेऽर्थे सम्भवतीति तद्ब्रहणं अस्मदम्युपगतार्थावब्रहकालात् प्राक् प्रति-पत्तव्यम्, स च व्यञ्जनावग्रहकालोऽर्थपरिश्रन्य इति यत्किञ्चिदेतत् । नन्यनन्तरम्-'क 20 एष अन्दः' इति अन्दत्वावान्तरधर्मविषयकेहानिर्देशात् 'अन्दोऽयम्' इत्याकार एवाव-ब्रहोऽभ्युपेय इति चेत्; नः 'शब्दः शब्दः' इति मापकेणैव भणनात् अर्थावब्रहेऽब्यक्त-श्रव्दश्रवणस्यैव सत्रे निर्देशात् , अव्यक्तस्य च सामान्यरूपत्वादनाकारोपयोगरूपस्य चास्य तन्मात्रविषयत्वात् । यदि च व्यञ्जनावम्रह एवाव्यक्तश्रव्दम्रहणमिष्येत तदा सोऽप्यर्थावग्रहः स्यात , अर्थस्य ग्रहणात ।

१९, केचिन्तु-'सङ्केतादिविकल्पविकलस्य जातमात्रस्य बालस्य सामान्यग्रह-णम्, परिचितविषयस्य त्वाद्यसमय एव विशेषज्ञानिसत्वेतदपेश्वया 'तेन शब्द इत्यव-गृहीतः' इति नातुषपत्रम्'-इत्याहुः; तक्तः, एवं हि व्यक्ततस्य व्यक्तशब्दज्ञानमति-क्रम्यापि सुबह्विशेषग्रह्मसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः; 'त पुनर्जानाति क एप शब्दः' इति सृत्रावयवस्याविशेषेणोक्तत्वात् , प्रकृष्टमतेरिप शब्दं धर्मिणमगृहीत्वोत्तरोत्तरसुषहुधर्म-अहणानुषपत्रेश्व ।

§ १०. अन्ये तु-'आलोचनपूर्वकमर्थावद्रहमाचक्षते, तत्रालोचनमञ्यक्तसामा-

न्यम्राहि, अर्थावमहास्त्वतरञ्याङ्गचस्तुस्वरूपमाहीति न सूत्रानुपपिचः'-इतिः तदसत्ः यत आलोचनं न्यञ्जनावमहात् पूर्वं स्थात्, प्रथाद्वा, स एव वा १ नाद्यः; अर्थव्यञ्जनसम्बन्धं विना तद्योगात् । न द्वितीयः; व्यञ्जनावमहान्त्र्यसमयेऽर्थावमहस्यैवोत्पादाः दालोचनानवकाञ्चात् । न तृतीयः; व्यञ्जनावमहस्यैव नामान्त्रस्वरूपात् , तस्य चार्थ- श्रून्यत्वेनार्थालोचनानुपपकः । किञ्च, आलोचनेनेहां विना झटित्येवार्थावमहः कर्ष ठ जन्यताम् १ युगपचेहावमहाँ पृथ्मतङ्कष्टेयसमयमानी कथं घटेताम् १ इति विचारणीयम् । नन्ववमहेऽपि क्षिभेतरादिमेदप्रदर्शनादसङ्कष्टमसमयमानत्वम्, विशेषविषयत्वं चाविरुद्ध- मिति चेतुः नः तच्वतस्तेवामपायमेदत्वात्, कारणे कार्योपचारमाश्रित्यावमहमेदत्वप्रति- पादनात्, अविशेषविषये विशेषविषयत्वस्थावास्तवस्वात्।

§ ११. अथवा अवग्रहो द्विवधः-नैश्चियकः, व्यावहारिकश्च । आद्यः सामा 10 व्यमात्रग्नाही, द्वितीयश्च विशेषविषयः तद्वत्तस्युत्तरोत्तरसर्माकाङ्गारूपेदाग्रश्चेः, अत्यथा अवग्रहं विनेहानुःथानप्रसङ्गात् अत्रैव क्षिप्रेतरादिमेदसङ्गतिः, अत एव चोपर्युपरि ज्ञान-प्रवृत्तिरूपसन्तानव्यवहार इति द्रष्टव्यम् ।

## [ ७. ईहावायधारणानां क्रमशो निरूपणम् । ]

§ १२. अर्थगृहीतविशेषाकाङ्गणम्-ईहा, व्यतिरेक्षभर्मनिराकरणपरोऽन्वयधर्म- 15 घटनप्रवृत्तो बोध इति यावत्, यथा-'श्रोत्रश्राक्षस्वादिना प्रायोऽनेन शब्देन भवितव्यम्' 'मधुरत्वादिश्रम्युक्तत्वात् श्राङ्कादिना' वा इति । न चेथं संश्चय एवः तस्यैकत्र धर्मिणि विरुद्धनानार्थशानरूपत्वात् , अस्याश्च निश्चयाभिष्कुलत्वेन विरुश्चणत्वात् ।

११२. ईहितस्य विशेषनिर्णयोऽवायैः, यथा-'शब्द एवायम्', 'शाङ्क एवायम्' इति वा।

६१४. स एव दृहतमावस्थापको घारणाँ। सा च त्रिविधा-अविच्युतिः, स्मृतिः, वासना च । तत्रैकार्थोपयोगसातत्यानिङ्गिः अविच्युतिः। तस्यैवार्थोपयोगस्य काला-न्तरे 'तदेव' इत्युद्धेखेन समुन्मीळनं स्मृतिः। अषायाहितः स्मृतिहेतुः संस्कारो वासना। द्वयोरवग्रहयोरवर्ग्रहत्वेन च तिसुणां घारणानां घारणात्वेनोपग्रहाक विभागव्याघातः।

\$१५. केचित्तु-अपनयनमयायः, धरणं च धारणेति व्युत्वस्यर्थमात्रानुसारिणः- 25 'असङ्कृतार्थविशेषव्यतिरेकावधारणमयायः, सङ्कृतार्थविशेषवधारणं च धारणा'-इत्याहुः; तम्नः, क्षचित्तदन्यव्यतिरेकपरामर्थात्, क्षचित्तदन्यव्यतिरेकपरामर्थात्, क्षचित्रव्ययभौतमनुगमात्, क्षचिद्यामर्थामिष् भवतोऽपायस्य निश्चयैकरूपेण भेदाभावात्, अन्यया स्पृतेराधिक्येन मतेः पश्चभेद-त्वप्रसङ्गात्। अथ नास्त्येव भवद्भिमता धारणेति भेदचतुष्ट्या(य)व्याधातः; तथाहि- उपयोगोपरमे का नाम धारणा? उपयोगसातत्यत्यक्षणा अविच्युतिश्चापायान्नातिरिच्यते। 30

१ प्र. मी. १. १. २ ७ । २ तुलमा प्र. न. २. ९ । ३६ प्र. स. २. १० । ४ −०रवमहासेन तिस्रणांच भारणानाम्–इति पाठः सम्बग माति ।

या च घटाषुपयोगोपरमे सङ्क्ष्येयससङ्क्ष्येयं वा कालं वासनाऽम्युपगम्यते, या च 'तदेव' इतिलक्षणा स्यृतिः सा मत्यंश्ररूपा घारणा न भवति मत्युपयोगस्य प्रागेवोपरतत्वात् , कालान्तरे जायमानोपयोगेऽप्यन्वयप्रुस्थां घारणायां स्पृत्यन्तर्भावादिति चेत्; नः अपायप्रष्ट्रस्यन्तर्मा किविदन्तर्भ्रहृत् यावदपायधाराप्रश्चतिदर्भनात् अविच्छतेः, पूर्वापर- दर्भनातुसन्यानस्य 'तदेवेदम्' इति स्पृत्यारूयस्य प्राच्यापयपिणामस्य, तदाधायकः संस्कारलक्षणाया वासनायाश्र अपायाम्यिकत्वातः ।

६९६. नन्विच्युतिस्यृतिळ्युणौ झानमेदौ गृहीतग्राहित्वास प्रमाणम् ; संस्कारश्र कि स्पृतिझानावरणश्रवीपद्ममो वा, तज्झानजननञ्जक्तिषी, तद्वस्तुविकल्पो वेति त्रयी गतिः १ तत्र-आद्ययसुद्धयम् ; झानरूपत्वाभावात् तक्नेदानां चेह विचार्यस्वात् । 10 तृतीयपक्षीऽप्ययुक्त एवः सङ्क्षयेयससङ्क्षयेयं वा कार्ल वासनाया इष्टत्वात् , एतावन्तं च कार्ल वस्तुविकल्पायोमादिति न कापि धारणा घटत इति चेत्; नः स्पष्टस्पष्टतस्पष्ट-तमभिक्षधर्मकशासनाजनकत्वेन जन्यान्यवस्तुग्राहित्वाद्विच्युतेः प्रागनतुभृतवस्त्वेक-त्वग्राहित्वाच स्मृतः अगृहीतग्राहित्वात् , स्मृतिझानावरणकभेश्वयोपद्ममरूपायास्त्रद्विझान-जनत्रक्रसत्वायाश्र वासनायाः स्वयमझानरूपत्वेऽपि कारणे कार्योपचारेण झानमेदा-15 मिषानाविगेषादिति ।

§ १७. एते चावग्रहादयो नोत्क्रमध्यतिक्रमाभ्यां न्यूनत्वेन चोत्पद्यन्ते, ज्ञेयस्ये-त्थमेव ज्ञानजननस्वामाव्यात । कचिद्रम्यस्तेऽपायमात्रस्य दृढवासने विषये समृति-मात्रस्य चोपलक्षणेऽप्युत्पलपत्रश्चतव्यतिभेद इव सौक्ष्मयादवग्रहादिकमानुपलक्षणात । तदेवम् अर्थावग्रहादयो मनहन्द्रियैः बोढा भिद्यमाना व्यञ्जनावग्रहचत्रभेदैः सहाष्टावि-20 श्रतिमीतिमेदा मवन्ति । अथवा बह-बहविध-खिप्रा-ऽनिश्चित-निश्चित-भ्रवैः सप्रतिपक्षेद्वी-दश्चिमेरेदैर्भिमानामेतेषां परत्रिश्चद्धिकानि त्रीणि शतानि भवन्ति । बह्वादयश्च भेदा विषयापेक्षाः : तथाहि-कश्चित नानाशब्दसमृहमाकणितं बेहं जानाति-'एतावन्तोऽत्र शक्कशब्दा एतावन्तश्च पटहादिशब्दाः ' इति प्रथमिस्रजातीयं क्षयोगशमविशेषात परि-च्छिनचीस्पर्थः । अन्यस्त्वरुपक्षयोपश्चमत्वात् तत्समानदेशोऽप्यवैद्यम् । अपरस्तु क्षयोप-25 शमवैचित्र्यात बहविधम् , एकैकसापि श्रह्णादिशब्दस्य स्त्रिग्धत्वादिबहधर्मान्त्रितत्वेना-प्याकलनात् । परस्त्वबहुविधम् , स्निग्धत्वादिस्वरूपधर्मान्वितत्वेनाकलनात् । अन्यस्त क्षित्रम , शीघ्रमेव परिच्छेदात । इतरस्त्वक्षित्रम् , चिरविमर्शेनाकलनात् । परस्त्वनिश्रितम् , लिङ्गं विना स्वरूपत एव परिच्छेदात् । अपरस्तु निश्रितम् , लिङ्गनिश्रयाऽऽकलनात् । किंशितु निश्चितम्, विरुद्धधर्मानालिङ्गितत्वेनावगतेः । इतरस्त्वनिश्चितम्, विरुद्धधर्मा-30 क्रिततयावगमात । ] अन्यो ध्रुवम्, बह्वादिरूपेणावगतस्य सर्वदेव तथा बोधात । अन्य-स्त्वप्रवय . कदाचिद्रहादिरूपेण कदाचित्त्वबद्वादिरूपेणावगमादिति । उक्ता मतिभेदाः ।

१ तुलना-प्र. न. २. १४ । २ वहु वा०-प्र० व० । ३-वहु छ०-प्र० । ध अयं पाटः कोष्ठके एव पूर्व मुद्रितः । च च अन्यत्र क्वापि प्रताववक्षपि औवित्यवधान् तवेवात्र सुद्रोतः ।

## [८. श्रुतज्ञानं चतुर्वश्रधा विभज्य तन्निरूपणम् । ]

§ १८. श्रुतमेदा उच्यन्ते-श्रुतम् अक्षर-सन्ध्नि-सम्यक्-सादि-सपर्यवसित-गमिका-ऽक्रप्रविष्टमेदैः सप्रतिपक्षेश्वतुर्दश्चविषम् । तत्राक्षरं त्रिविषम्-सञ्ज्ञां-स्यञ्जन-रुव्धिमेदात् । सञ्ज्ञाक्षरं बहुविघलिपिभेदम् , व्यञ्जनाक्षरं मान्यमाणमकारादि-एते चोपचाराच्छते । लब्ध्यक्षरं त इन्टियमनोनिमित्तः अतोपयोगः. तदावरणक्षयोपन्नमो वा-एतक् परोपदेन्नं 5 विनापि नासम्भाव्यम् , अनाकलितोपदेशानामपि सम्धानां गवादीनां च शब्दश्रवणे तदाभिम्ररूपदर्शनात . एकेन्द्रियाणामप्यव्यकाश्वरलाभाव । अनश्वरभूतमुच्छासादि, तस्यापि भावश्रवहेतुत्वात्, ततोऽपि 'सञ्जोकोऽयम्' इत्यादिज्ञानाविभावात् । अथवा अतोषयुक्तस्य सर्वात्मनेवोषयोगात् सर्वस्यैव व्यापारस्य अतहःपत्वेऽपि अत्रेव शास्त्रज्ञ-लोकप्रसिद्धा रूढिः । समनस्कस्य श्रुतं सञ्ज्ञिश्रुतम् । तद्विपरीतमसञ्ज्ञश्रुतम् । 10 सम्यक्श्रुतम् अङ्गानङ्गप्रविष्टम्, लौकिकं त मिथ्याश्रुतम् । स्वामित्वचिन्तायां त भजना-सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्श्रुतमेव वितथमापित्वादिना यथास्थानं तदर्थविनियोगात . विपर्ययान्मिथ्यादृष्टिपरिगृहीतं च सम्यकश्रुतमपि मि-ध्याश्रुतमेवेति । सादि द्रव्यत एकं पुरुषमाश्रित्य, क्षेत्रतश्च भरतेरावते । कालत उत्सर्विण्यवसर्विण्योः भावतश्च तत्त्वज्ञापकप्रयत्नादिकम् । अनादि दृष्ट्यतो नानापुरुषाः 15 नाश्रित्य, क्षेत्रतो महाविदेहान्, कालतो नोउत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणम्, भावतश्र सामान्यतः क्षयोपश्चममिति । एवं सपर्यवसितापर्यवसितमेदावि भाव्यो । गमिकं सद्यपाठं प्रायो दृष्टिवाद्गतम् । अगमिकमसद्यपाठं प्रायः कालिकश्रतगतम् । अङ्ग-प्रविष्टं गणधरकृतम् । अनङ्गप्रविष्टं तु स्थविरकृतमिति । तदेवं सप्रभेदं सांध्यवहारिकं मतिश्रतलक्षणं प्रत्यक्षं निरूपितम् । 20

#### ि ९. पारमार्थिकं प्रत्यक्षं त्रिधा विभज्य प्रथममवधीर्निहरणम् । ]

११९. स्वोत्पत्तावात्मव्यावारमात्राषेखं पारमाधिकं म् । तत् त्रिविषम्-अवधिमनःपर्यय-केवलभेदात् । सकलरूपिद्रव्यविषयकजातीयम् आत्ममात्रापेखं झानमविषझानम् । तत्र पोडा अनुगामि-वर्षमान-प्रतिपातीतरमेदात् । तत्रोत्पत्तिक्षेत्रादन्यत्राप्यनुवर्तमानमानुगामिकम् , भास्करप्रकाश्चवत् , यथा भास्करप्रकाशः प्राच्यामाविर्भृतः 25
प्रतीत्रीमनुसस्यपि तत्रावकाश्चसुषोत्तपति, तथैतदप्येकत्रोत्पत्तमन्यत्र गच्छतोऽपि पुंसो
विषयमवमासयतीति । उत्पत्तिश्चेत्र एव विषयावभावकमनानुगामिकम् , प्रशादेशपुरुषझानवत् , यथा प्रतिविद्यस्याने संवाद्यितं श्चन्तोति एच्छत्यमानमर्थम् ,
वयेदमपि अधिकृत एव स्थाने विषयसुष्योतयितुमलमिति । उत्पत्तिश्चेत्रात्कमेण विषयव्याप्तिमवगाहमानं वर्षमानम्, अवरोत्तरात्मित्रमेवनात्मप्रोत्मान्यस्य ।
मानेच्यतराद्यपिवत्, यथा अधिः प्रयत्नादुष्यातः स्तृ पुनिस्मित्रमानापिवः
गच्छति एवं परमञ्चमान्यवसायलामादिदमिष पूर्वोत्यक्षं इति । उत्पत्तिश्चेत्राप्यस्य ।

Ü

20

क्रमेणार्ट्यामबिद्धपर्य हीयमानम्, परिन्छिक्नेत्यनोपादानसन्तरस्यप्रिशिखावत्, यथा अपनीतेत्यनाभिज्वाला परिद्वीयते तथा इदमपीति । उत्पत्त्यनन्तरं निर्मूलनश्वरं प्रतिपाति, जलतरक्क्षन्त्, यथा जलतरक्क उत्पन्नमात्र एव निर्मूलं विलीयते तथा इदमपि । आ के-बलप्राप्तेः आ मरणादा अवतिष्ठमानम् अप्रतिपाति, वेदवत्, यथा पुरुषवेदादिरापुरुषा-विषर्पायं तिष्ठति तथा इदमपीति ।

#### [ १०. मनःपर्यवज्ञानस्य निरूपणम् । ]

§२०. मनोमात्रसाक्षात्कारि मनःपर्यवज्ञांनम् । मनःपर्यायानिदं साक्षात्परिच्छेचुमलम्, बाह्यानर्थान् वुनस्तदन्यथाऽनुपर्याऽनुमानिनैत्र परिच्छिनचीति द्रष्टव्यम् । तद्
द्विविषम् — ऋज्ञमति-विश्रुलमतिमेदान् । ऋज्ञ्ञी सामान्यग्राहिणी मतिः ऋज्ञमतिः ।
10 सामान्यग्रदोऽत्र विश्रुलमत्यपेक्षयाऽल्यविशेषपरः, अन्यया सामान्यमात्रग्राहित्वे मनःपर्यायदर्शनप्रसङ्गान् । विषुला विश्रेषग्राहिणी मितिविषुलमतिः । तत्र ऋज्ञमत्या घटादिमात्रमनेन चिन्तितमिति ज्ञायते, विषुलमत्या तु पर्यायग्रतोषेतं तत् परिच्छियत
इति । एते च दे ज्ञाने विकलविषयस्वाद्विकलप्रस्यक्षे परिभाष्येते ।

## [ ११. केवलज्ञानस्य निरूपणम् । ]

े§ २२. 'योगजधर्मानुगृहीतमनोजन्यमेवेदमस्तु' इति केचित्; तन्नः धर्मानुगृहीते-

नापि मनसा पञ्चेन्द्रियार्थज्ञानवदस्य जनयितमञ्ज्यत्वात ।

§२२. 'कबलमोजिनः कैबल्यं न घटते' इति दिक्षटः; तका; आहारपर्यारमत्त्रवेदनीयोदयादिप्रसत्त्रवाद कबल्या कबल्या कैबल्याविरोधात्, वातिकर्मणामेव तिहरोधित्वात् । दग्धरज्ञुस्थानीयाचतो न तदुत्यचिरिति चेत्; नन्वेवं ताद्यशादायुषो

25 भवीषप्रहोऽपि न स्यात् । किञ्ज, औदारिकशरीरस्थितिः कथं कबल्युक्ति विना भगवतः स्यात् । अनन्तवीयत्वेन तां विना तदुपपत्ती छब्बस्यावस्थायामप्यपरिमितवर्लत्वअवणाद् सुक्त्यभावः स्यादित्यन्यत्र विस्तरः । उक्तं प्रत्यक्षम् ।

## [ १२. परोक्षं लक्षयित्वा पञ्चधा विभज्य च स्मृतेर्निहरपणम् । ]

६२४, अय परोक्षमुन्यते-अस्पर्ध परोक्षम्। तच स्मरण-प्रत्यिभज्ञान-तर्का-उनुमाना-30 ऽऽगमभेदतः पञ्जप्रकारम् । अनुभवमात्रजन्यं ज्ञानं स्मरणम् , यथा तत् तीर्थकरविस्वर्म्।

रै तुलना-प्र. नं. २.२२। रे तुलना-प्र. नं.२,२३।३००वत्वध०-सु०। –०ल४०-प्र०।\_ ४४.नं.३.१।५९ तुलना-प्र. नं.३,२।६ तुलना-्प्र. नं.३,३-४।

त चेदमप्रमाणम्, प्रत्यक्षादिवत् अविसंवादकत्वात् । अतीवतत्त्वांशे वर्तमानत्विवय-त्वाद्वप्रमाणमिद्मिति चेत्; नः सर्वत्र विश्लेषणे विश्लेष्यकालमानानियमात् । अतुभव-प्रमात्वपारतन्त्र्याद्वप्रप्रमात्वमिति चेत् ; नः अतुमितेरिप न्याप्तिश्चानादिप्रमात्वपार-तन्त्र्येणाप्रमात्वप्रसङ्गात् । अतुमितेरुत्त्वौ परामेश्चा, विषयपरिच्छेदे तु स्वातन्त्र्यमिति चेत्; नः स्पृतेरप्यूत्यत्त्राचेवानुमवसन्यपेश्वत्वात्, स्वविषयपरिच्छेदे तु स्वातन्त्र्यामिति चेत्; तर्हि अनुभवविषयीकृतभावावमासिन्याः स्पृतेविषयपरिच्छेदेऽपि न स्वातन्त्र्यमिति चेत्; तर्हि व्याप्तिश्चानादिविषयीकृतानर्थात् परिच्छिन्दत्या अनुमितेरिप प्रामाण्यं द्रत्त एव । नैय-त्येनाऽभात एवार्थोऽनुमित्या विषयीक्रियत इति चेत्; तर्हि तत्त्वपाऽभात एवार्थः स्मृत्या विषयीक्रियत इति तुन्यमिति न किञ्चदेतत् ।

#### [ १३. प्रत्यभिज्ञानस्य निरूपणम् । ]

10

६२६. तचेदन्तारूपस्पष्टास्पष्टाकारभेदान्नैकं प्रत्यभिज्ञानस्वरूपमस्तीति द्यास्यः, 15 तम् आकारभेदेऽपि चित्रज्ञानवदेकस्य तस्यानुभूषमानत्वात् , स्वसामग्रीप्रवनस्यास्य वस्तुतोऽस्पष्टैकरूपत्वात् , द्रत्योञ्जेखस्य प्रत्यभिज्ञानिबन्धनत्वात् । विषयाभावान्ने-दमस्तीति चेत् ; नः पूर्वापरविवर्तवस्यकद्रव्यस्य विशिष्टस्येतद्विषयत्वात् । अत एव 'अगृहीतासंसर्गकमनुभवस्पृतिकृषं ज्ञानद्वयमेवेतत् द्रे ति निरस्तस् ; इत्यं सति विशिष्टज्ञानमात्रोञ्छदापनेः। तथापि 'अधान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् प्रत्यक्षरूपमेवेद 20 पुक्तम् 'इति केचित् ; तभः साक्षादश्चान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वस्यासिद्धः, प्रत्यभिज्ञानस्य साक्षात्प्रत्यक्षस्यस्याप्तव्यव्यतिरेकानुविधायित्वनानुभूयमानत्वात् , अन्यथा प्रथम-व्यक्तिदर्श्चनकालेऽस्युत्पचित्रसङ्गात् ।

§ २७. अथ पुनर्दर्शने प्रदेर्यनाहितसंस्कारश्रवोधोत्पकस्मृतिसहायमिन्द्रियं प्रत्यभिद्यानमुत्पादयतीत्युच्यते; तद्युचितम्; प्रत्यक्षस्य समृतिनिरपेक्षत्वात् । अन्यथा 25
पर्वते विद्वानस्यापि व्याप्तिस्मरणादिसापेक्षमनतेवोषपची अनुमानस्याप्युच्छेदप्रसङ्गात् । किञ्च, 'प्रत्यभिजानामि' इति विरुक्षणप्रतीतेरप्यतिरिक्तमेतत् , एतेन
'विशेष्यन्द्रियसिक्वर्षसम्बादिश्चेषणञ्चाने सति विशिष्टप्रत्यक्षरूपमेतद्वपप्यते' इति
निरस्तम् ; 'दत्तसद्यः सः' इत्यादौ तद्यावात् , स्मृत्यद्वभवसङ्करुपमस्यानुभविकत्वाचेति दिक् ।

१ प्र. स. ३. ५ । २ तुलना–प्र. स. ३. ६ । ३,−०क्पक्रान०-प्र० ।

Б

§ २८. अत्राह <u>भाटुः</u>-नन्वेकत्तद्वानं मत्यिमद्वानमस्तु, सादृश्यद्वानं तूरमानमेव, गवये दृष्टे गवि च स्पृते सति सादृश्यद्वानस्योपमानत्वात्, तदुक्तम्-

"तस्माधत् समयेते तत् स्यात् साइइवेन विशेषितम् । प्रमेयस्रुपमानस्य साइस्यं वा तदन्वितम् ॥ १ ॥ प्रस्यक्षेणाववुद्धेऽपि साइइये गवि च स्सृते । विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ॥ २ ॥"

[स्डोकवा० उप० स्डो० ३७-३८]

इति: तकः; दृष्टस्य सादृइयदिशिष्टिषण्डस्य स्पृतस्य च गोः सङ्कलात्मकस्य 'गोसदृशो गवयः' इति ज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानताञ्जतिकमात् । अन्यथा 'गोविसदृशो 10 महिषः' इत्यादेर्षि सादृइयाविषयत्वेनोपमानातिरेके प्रमाणसङ्ख्याच्याघातप्रसङ्गात् ।

\$२९. एतेन-'गोसद्यो गवयः' इत्यतिदेशवाक्यार्थञ्चातकरणकं साद्द्यविशिष्टपिण्डदर्शनव्यापारकम् 'अयं गवयश्वन्दवाच्यः' इति सञ्ज्ञासिञ्ज्ञसम्बन्धप्रतिपत्तिरूपस्वप्मानम्-इति नैयाधिकमतमप्यपहस्तितं भवति । अतुभूतव्यक्तौ गवयपदवाच्यत्वसङ्कलनात्मकस्यास्य प्रत्यभिज्ञानत्वानतिकमात् प्रत्यभिज्ञानावरणकमेश्वयोपशमित्रशेषेण

15 यद्धमीवच्छेदेनातिदेशवाक्यान्त्यभमेद्दशेनं तद्धमीवच्छेदेनैव पदवाच्यत्वपरिच्छेदोपपत्तः ।
अत एव "पर्योग्ड्युमेदी हृंसाः स्यात्" इत्यादिवाक्यार्थज्ञानवतां प्योऽम्युमेदित्वादिविशिष्ट्यप्तिदर्शने सति 'अयं इंतपदवाच्यः' इत्यादिश्वतिर्वायमानोपययते । यदि
च 'अयं गवयपदवाच्यः' इति प्रतीत्यं प्रत्यभिज्ञातिरिक्तं प्रमान्योयते तदाः
आमलकादिदर्शनाहित्तंस्कासस्य विक्वादिदर्शनात् 'अवस्तत् यक्षमम्' इत्यादिप्रतीत्यर्थ

20 प्रमाणन्तसन्विष्पीयं स्यात् । मानसत्व चालाधुपमानस्यापे मानसत्वप्रसङ्गात् ।

'प्रत्यभिज्ञानामि' इति प्रतीत्या प्रत्यभिज्ञानत्वमेवास्युपेयमिति दिक् ।

## [ १४. तर्कस्य निरूपणम् । ]

§ २०. सक्ठदेशकालाघवच्छेदेन साध्यसाधनभावादिविषय ऊहस्तर्कः, यथा 'यावान् कश्चिद्धमः स सर्वे बह्वो सत्येव भवति, विह्वं विना वा न भवेति' 'धटशब्द25 मात्रं घटस्य वाचकम्' 'धटमात्रं घटशब्दवाच्यम्' इत्यादि । तथाहि⊸स्वरूपग्युक्ताऽच्यभि-चारलश्चणायां व्यासो भ्योदर्श्वनसहितान्वयव्यतिरेकसहकारेणापि प्रत्यक्षस्य तावदः विषयत्वादेवाप्रवृत्तिः, सुतरां च सकलसाध्यसाधनव्यक्तपुषसंहारेण तद्वह इति साध्य-साधनदर्श्वनस्मरणप्रत्यभिज्ञानोपञ्जनितस्तर्क एव तत्त्रतीतिमाधातुमलम् ।

§ २१. अय स्वच्यापकवाच्यसामानाधिकरण्यलक्षणाया च्याप्तेयोग्यत्वाद् भ्रूयोदर्भः 30 नम्यभिचारादर्भनसङ्कतेनेन्द्रियेण व्याप्तिप्रदोऽन्त्, सकलसाच्यसाधनव्यक्युपसंहार-स्यापि सामान्यलक्षणप्रत्यासँच्या सम्भवादिति चेत् ; नः 'तर्कवाभि' इत्यन्तुभवसिद्धेन

१ तुलना-प्र. त. ३. ७-८। २-० गुक्तव्यक्ति०-र्थं० मु०। ३-०सस्यसम्म० - प्र० व०।

तकेंजेव सकलसाध्यसाधनव्यक्यपसंहारेण व्याप्तिग्रहोक्वची सामान्यलखणप्रत्यासचि-कल्पने प्रमाणामानात्, ऊहं विना ज्ञातेन सामान्येनापि सकलन्यच्यनुपस्थितेश । ज्ञाच्यवाचकमावोऽपि तर्केणैवावगम्यते. तस्यैव सकलश्चन्दार्थगोचरस्वात् । प्रयोजक-बडोक्तं श्रत्वा प्रवर्तमानस्य प्रयोज्यबद्धस्य चेख्रामवलोक्य तत्कारणज्ञानजनकतां श्रव्हे-त्मकप्रत्यभिज्ञानवर्ते आवापोद्वापाम्यां सकलव्यक्त्यपसंहारेण च वाच्यवाचकमाव-प्रतीतिदर्शनादिति । अयं च तर्कः सम्बन्धप्रतीत्यन्तरनिरपेश्च एव स्वयोग्यतासामध्या-व्यवस्थाति जनयतीति नानवस्था ।

६३२. प्रत्यक्षपृष्टमाविविकल्परूपत्वासायं प्रमाणमिति बौद्धाः तसः प्रत्यक्षपृष्ठ-भाविनो विकल्पस्यापि प्रत्यक्षगृहीतमात्राध्यवसायित्वेन सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्राहकत्वा- 10 भावात । तादश्यस्य तस्य सामान्यविषयस्याप्यतमानवत प्रमाणत्वात , अवस्त्रतिर्भासेऽपि वरम्बरया वदार्थप्रतिबन्धेन भवतां ब्यवहारतः प्रामाण्यप्रसिद्धेः। यस्त-अग्निधमध्यतिहि-क्तदेशे प्रथमं धमस्यानुपलम्म एकः, तदनन्तरमग्रेरुपलम्भस्ततो धमस्येत्यपलम्भद्रयम्, पश्चादग्नेरत्वपलम्भोऽनन्तरं धुमस्याप्यत्वपलम्भ इति द्वावत्वपलम्भाविति प्रत्यक्षानवलम्भ-पश्चकाद्वधाप्तिग्रह:-इत्येतेषां सिद्धान्तः, तदुक्तम्-

> ''धुमाधीर्विद्धिविज्ञानं धुमज्ञानमधीस्तयोः। प्रस्वज्ञानुपलम्भाभ्यामिति पञ्चभिरत्वयः॥"

इति: स त मिथ्याः उपलम्मानुपलम्भस्यभावस्य द्विविधस्यापि प्रत्यक्षस्य समिहितमात्र-विषयतयाऽविचारकतया च देशादिव्यवहितसमस्तपदार्थगोचरत्वायोगात ।

§ ३३, यनु 'व्याप्यस्याहार्यारोपेण व्यापकस्याहार्यप्रसञ्जनं तर्कः । स च विशेष- 20 दर्शनवद विरोधिशङ्काकालीनप्रमाणमात्रसहकारी, विरोधिशङ्कानिवर्तकरवेन तदनुकल एव वा । न चार्य स्वतः प्रमाणम्' इति नैयायिकैरिष्यतेः तकः व्याप्तिग्रहरूपस्य तर्कस्य स्वपरव्यवसायित्वेन स्वतः प्रमाणत्वात् , पराभिमततर्कस्यापि कचिदेतद्विचाराक्रतया. विवर्धयवर्धवसायिन आहार्यश्रङाविघटकत्या, स्वातन्त्र्येण श्रङ्कामात्रविघटकत्या वीप-योगात । इत्थं चाज्ञाननिवर्तकत्वेन तर्कस्य शामाण्यं धर्मभूषणोक्तं सत्येव तन्न(तत्र) 25 मिध्याज्ञातस्ये व्यवच्छेद्ये सङ्ब्छते, जानाभावनित्रत्तिस्त्वधंज्ञातताव्यवहारनिबन्धनः स्वव्यवसितिपर्यवसितैव सामान्यतः फलमिति द्रष्टव्यम ।

१--ज्ञानवत् आवा -- मु । २--तया चोपयो -- भ्र- मु । ३ धर्मभूषणेन हि स्रोक्तवार्ति-कीयवाक्योहेलेन स्वमतं समर्थितम्, तबाहि-"तदुकं कोक्वार्तिकभाष्य-'साध्यसाधनसम्बन्धाजाननिय-क्तिये हि फले साधकतमस्तर्कः' इति ।" िन्यायदी । प्र. १९ ]। इष्टम्यं चैतत् तत्त्वार्थन्त्रोकवा । १३० ११५-८ इतो । धर्मभूषणोकं तत्र सकेव मिध्याहाने व्यवच्छेये एक्टछते ज्ञानस्ये । ज्ञानामाव - मु । धे -- शानता -- म » ।

# [ १५. अनुमानं देशा विभज्य स्वार्थातुमानस्य लक्षणम् । ]

§ २४. साधनात्साध्यविद्यानम् - अनुमानम् । तद् द्विविधं स्वाधं परार्थं चे । तत्र हेतु-श्रहण-सम्बन्धसरणकारणकं साध्यविद्यानं स्वाधंम्, यथा गृहीतपूनस्य स्मृतव्याप्तिकस्य 'पर्वतो बह्विमान्'इति झानम् । अत्र हेतुश्रहण-सम्बन्धसरणयोः सम्वदितयोरेव कारण-5 त्वमवसेषम् , अन्यथा विस्मृताश्रतिपन्नसम्बन्धस्यागृहीतिलङ्गकस्य च कस्यचिदनु-मानोत्यावसमञ्जतः ।

## [ १६. हेतुस्बरूपचर्चा । ]

§ २५. निश्चितान्यथातुषपरयेकलखणो हेतुः, न तु त्रिलखणकादिः । तथाहित्रिलक्षण एव हेतुरिति बौद्धाः । पथ्वधर्मत्वामावेऽसिद्धत्वन्यवन्छेदस्य, सपश्च एव सस्वा10 सावे च विकद्धत्वन्युदासस्य, विपश्चेऽसस्यनियमामावे चौनैकान्तिकत्वनिषेषस्यासम्भवेनातुमित्यप्रतिरोधातुपपचेरितिः, तन्नः पश्चधर्मत्वामावेऽपि उदेप्पति शक्टं कृत्तिकोदः
याद्, उपिर सविवा भूमेरालोकवन्त्वाद्, अस्ति नमश्चन्द्रो जलचन्द्रादित्याद्यमानदश्चेनात् । न चात्रापि 'कालाकाशादिकं भविष्यच्छकटोदयादिमन् कृत्तिकोदपादिमस्वात्' हर्येवं पश्चधर्मत्वोपपचिरिति वाच्यम्; अनतुभूयमानधर्मिविषयरवेनेत्यं पश्चधर्म15 स्वोपवादने जगद्धम्पयेश्वया काककाष्येन प्रासादधावस्यस्यापि साधनोपपचेः ।

§ ३६. नजु यधेवं पक्षधर्मताऽजुमितौ नाङ्गं तदा कथं तत्र पक्षमाननियम इति चेत्, कचिदन्यथाऽजुपपस्यवच्छेदकतया ग्रहणात् पक्षमानं यथा नमश्रन्द्रास्तित्वं विना जलचन्द्रोऽजुपपस्य हत्यत्र, कचिच हेतुग्रहणाधिकरणतया यथा पर्वतो बह्रिमान् भूमवस्वादित्यत्र भूमस्य पर्वते ग्रहणाद्वहेरिप तत्र मानमिति । च्याप्तिग्रहचेलायां तु 20 पर्वतस्य सर्वत्राजुङ्गस्यभावेन न ग्रह इति ।

१ प्र. मी. १. ९. ७, १ २ तुक्ता प्र. न. १, ९. । ३ प्र. न. १, १०, । ४ प्र. न. १, १९ १९ ८ - भावे वाने - मंग १८ १८ - भावे वाने - मंग १८ १८ - भावे वाने - मंग १८ १८ - भावे वाने - प्र. १८ १८ - भावे एवं च प्रक - मुंदा १ विना पर्वती बहिवानिभ्युत्त्वातीहम्" हत्यमेतनः पाठः धक्रतार्वकत्या अप्रैय प्रपादः । तथा न - तदान्तव्यक्तिकाला एवं पर्वती बहिवानिस्पुत्त्वातीति विना प्रवताप्यवंत्रयोभावा- वद्यानविष्क्रसामानिस्वारियोः इत्यक्ति

नीयं सुषीभिः । इत्यं च 'पकान्येवानि सहकारफळानि एकशाखाश्रमवत्वाव् उपयुक्तसहकारफळवित्यादौ बाषितविषये, मूर्खोऽयं देवदचः वत्युत्रत्वात् इतरतत्युत्रवदित्वादौ सत्प्रतिपक्षे चातिप्रसङ्गचारणाय अवाषितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वसिष्ठं प्रागुक्तः
रूपत्रयमादाय पाञ्चरूप्यं हेतुरुक्षणम्' इति नैयायिकमतमप्यपास्तम्; उदेष्यति सकटमित्यादौ पक्षधर्मत्वस्यैवासिद्धेः, स श्यामः वत्युत्रत्वादित्यत्र हेत्वाभासेऽपि पाञ्चरूप्यः 5
सस्वाच, निश्चितन्यथानुपपत्तेरेव सर्वत्र हेतुरुक्षणत्वीचित्यात् ।

#### [ १७. साध्यस्वरूपचर्चा । ]

- § २८. नचु हेतुना साध्यमनुमातव्यम् । तत्र किं लक्षणं साध्यमिति चेत् ; उच्यते-अप्रतीतमनिराकृतमभीष्सतं च साध्यम् । श्रक्कितविवरीतानध्यवसितवस्तुनां साध्यता-प्रतिवर्चयर्थमप्रतीतमिति विशेषणम् । प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य साध्यत्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यनि- 10 राकृतग्रहणम् । अनभिमतस्यासाध्यत्वप्रतिवचयेऽमीष्सितग्रहणम् ।
- § २९. कथायां श्रक्कितस्यैव साध्यस्य साधनं युक्तमिति कथित्; तत्रः विपर्यस्ता-च्युत्पन्नयोरिष परपक्षदिदक्षादिना कथायाध्यसर्पणसम्भवेन संशयनिरासार्थमिव विपर्य-यानध्यवसायनिरासार्थमिष प्रयोगसम्भवात् , षित्रादेविषर्यस्ताच्युत्पन्नपुत्रादिशिक्षाप्रदान-दर्शनाच । न चेदेवं जिगीषुकथायामनुमानप्रयोग एव न स्यात् तस्य साभिमानस्त्रेन 15 विपर्यस्तरवात् ।
- ६४०. अनिराक्त्तमिति विशेषणं बादिप्रतिवाद्यभयाधेश्वया, द्वयोः प्रमाणेनावाधितस्य कथायां साध्यत्वात् । अभीस्मितमिति तु वाद्यपेश्वयेन, वन्तुरेव स्वाभिप्रेतार्थप्रतिपादनायेच्छासम्भवात् । ततश्च पराधीश्वश्चरादय इत्यादौ पाराध्यमात्रामिधानेऽप्यात्मार्थत्वमेव सायं(०मेव साध्यं) सिष्यति । अन्यथा संहतपरार्थत्वेन भौद्धैश्च 20
  रादीनामभ्युपगर्मा[त् साधनवैक्तस्या]दित्यनन्वपादिदोषदृष्टमेतत्साङ्ख्याधनमिति वदनित । स्वार्थानुमानावसरेऽपि परार्थानुमानोपयोग्यमिधानम्, परार्थस्य स्वार्थपुरःसरत्वेनाविनेदङ्गापनार्थम् ।
- ६४१. व्याप्तिग्रँहणसमयापेश्वया सार्व्य घर्म एन, अन्यथा तर्तुपपचेः, आनुमानिक-प्रतिपरयनसरापेश्वया तु पक्षापरपर्यायस्ति शिष्टः प्रसिद्धो घर्मी । इर्र्य च स्वार्थानुमा- 25 नस्य त्रीण्यक्कानि घर्मी सार्व्य साधनं च । तत्र साधनं गमकत्वेनाक्कम्, सार्व्य त

१ तुक्ता-प्र. न. १. १४-१०। २ -- गमादित्यनन्वय-य-। आत्रायं पाठोऽतुवन्येय:- "तत्वय परायां बक्कराय्य इत्यादी पाराय्येमात्राभियानेऽप्यात्मार्थेत्वयेत वाष्यप्य प्रधिद्वपति । तदीच्छ्या स्मारं सङ्क्षप्यत् वौदं प्रति साध्यमेत्र । आत्मा हि सङ्क्षपत साध्यम्यक्रप्यत्ति। वाष्यायः। अन्यया साध्यस्य वैक्त्यापतेः, बंदतपरार्थलेत वौदेवस्तुर्थानासुर्यमात् । एवं शास्त्रनः साध्यते तेतीरिष्टार्य-पार्वादित्या विशेषविद्यत्यं साध्यसंय च स्ष्रान्तदोशः साध्यवैक्त्यमिति।"-स्या. र. प्र० ५३८। १-- प्रहस्तम्या-संग वन संग । प्र. न. १. १७. २०। धृ तुक्ता-न्याब्दी० प्र० २२।

सम्यत्वेन, धर्मी पुनः साध्यधर्माधारत्वेन, आधारविशेषनिष्ठतया साध्याद्धे(साध्यसिद्धे)-रजुमानप्रयोजनत्वात् । अथवा पक्षो हेतुरित्यक्कद्वयं स्वार्थानुमाने, साध्यधर्मविशिष्टस्य धर्मिणः पक्षत्वात् इति घर्मधर्मिमेदाभेदविवश्चया पश्चद्वयं द्रष्टव्यम् । हिन्दुः स्वार्थे

ह ४२. श्विमेणः प्रसिद्धिश्र कचित्रप्राणात् कचिद्धिकरपात् कचित्रप्राणाविकरपाः

5 भ्योष् । तत्र निश्चित्रप्राणाण्यकप्रत्यक्षाद्यन्यतम् । त्वृद्धपविषयस् । अनिश्चितः
प्रमाणयाप्रमाण्यप्रत्ययगोचरत् विकरणप्रसिद्धत्वम् । त्वृद्धपविषयस् प्रमाणविकरपः
प्रसिद्धत्वम् । तत्र प्रमाणसिद्धो धर्मी यथा धूमवस्वाद्यप्रमच्ने साध्ये पर्वतः, स सलु
प्रत्यक्षेणानुभूवते । विकरणसिद्धो धर्मी यथा स्वविद्यास्मचे साध्ये पर्वतः, स सलु
प्रत्यक्षेणानुभूवते । विकरणसिद्धो धर्मी यथा स्वविद्यास्मचे साध्ये स्वविद्यासम्प्रवक्षमाणः
स्वादित्यस्तित्वे साध्ये सर्वद्यः, अथवा सरविषाणं नास्तीति नास्तित्वे साध्ये स्वरिपाणम् । अत्र हि सर्वज्ञस्तिविषाणे अस्तित्वनादित्वस्तिद्धस्यां प्राण् विकरणसिद्धे । उपयसिद्धो धर्मी यथा शब्दः परिणामी कृतकत्वादित्यत्र शब्दः, स हि वर्तमान्तः, प्रत्यक्षः
गम्याः, भूतो मविष्येश विकर्णसम्यः, स सर्वोऽपि धर्मीति प्रमाणविकरणसिद्धो धर्मी ।
प्रमाणोभपतिद्धपोर्धीमेणोः साध्ये कामचारः । विकरणसिद्धे त धर्मिण सत्तासत्त्योरेव
साध्यविति नियमः । तदुक्तम् "विकरणसिद्धे तस्मन्त सत्तेनरे साध्ये"

15 परी० ३. २३ । इति ।

१४२. अत्र बौद्धः सत्तामात्रस्यानभीरिसतस्वादिशिष्टसत्तासाधने वानन्त्रयादिकः स्विति प्रकृतानुमानस्यापि अङ्ग- असङ्गात्, विद्वानास्यापि अङ्ग- प्रसङ्गात्, विद्वानास्यानभीरिसतस्वादिशिष्टबङ्केशानन्त्रयादिति । अथ तत्र सत्तायां साध्यायां तद्वेतुः-भावधर्मः, भावाभावधर्मः, अमावधर्मो वा स्यात् १ । आधेऽसिद्धिः, 20 असिद्धसत्वाके भावधर्मासिद्धेः । द्वितीये व्यभिवारः, अस्तिस्वाभाववस्यपि षृत्यः । तृतीये च विरोधामा(विरोधोऽमा)वधर्मस्य भावे क्वविद्यसम्भवात् , तदुक्तम्—

"नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति व्यक्तिबार्युभवाश्रयः। धर्मो विरुद्धोऽभावस्य सा सत्ता साध्यते कथन् ?॥"

[ प्रमाणवा० १. १९२ ]

25 इति चेत्। नः इत्यं विद्वमद्धर्मत्वादिविकल्पैर्धृमेन वह्वयनुमानस्याप्युच्छेदापसेः ।

§ ४४. विकल्पस्याप्रमाणत्वाद्विकल्पसिद्धो धर्मी नास्त्येवेति नैयायिकः । तस्येत्थंवच-नस्यैवाज्यपचेतस्यूणीम्मावापचिः, विकल्पसिद्धार्मिणोऽप्रसिद्धौ तस्त्रतिषेधाज्यपचेरिति ।

६४५. ह्दं त्ववधेयम्-विकल्पसिद्धस्य धर्मिणो नाखण्डस्यैव भानससत्त्व्यातिप्रस-क्वादिति, शन्दादेविशिष्टस्य तस्ये [मा]नास्युचगमे विशेषणस्य संशयेऽमावनिश्चये दाँ

१ तुलना प्र. न. १.२१। २ व्यक्तिवातभागण्यप्रस्य-प्र० । ३ -०साधने चानन्वया०-सु० । ४ नालण्डलस्यै-सं० । नालण्डस्यैवामानं-य० । ५ तस्य भानाभ्यु०-सु० । ६ वा विशिष्टवैशिष्टय-मानाद्रा०-सु० ।

20

वैश्विष्ट्यभाना निपपत्तेः विश्वेषणाद्येशे आहार्यारीपरूपा विकल्पारिमकैवानुमितिः स्वीकर्त-व्या. देशकालसत्तालक्षणस्यास्तित्वस्य, सक्छदेशकालसत्ताऽभावलक्षणस्य च नादित-स्वस्य साधनेन परपरिकल्पितविपरीतारोपन्यवच्छेदमात्रस्य फलत्वात ।

६ ४६. वस्तुतस्तु खण्डञ्चः प्रसिद्धपदार्थाऽस्तित्वनास्तित्वसाधनमेवोचितम् । अत एव "असतो निर्ध णिसेहो" विशेषा० गा० १५७३ इत्यादि माध्यग्रन्थे खरविषाणं 5 नास्तीत्यत्र 'खरे विषाणं नास्ति' इत्येवार्थ उपपादितः । एकान्तनित्यमर्थकियासमर्थ न भवति क्रमयौगपद्यामावादित्यत्रापि विशेषावेमश्चेद्रशायां क्रमयौगपद्यनिरूपकत्वाभावे-नार्थक्रियानियामकत्वाभावो नित्यत्वादौ ससाध इति सम्यश्रिभालनीयं स्वपरसमय-दत्तदृष्टिभिः ।

#### १८. परार्थानुमानस्य प्रतिपादनम् । ]

६ ४७. परार्थं पक्षहेतवचनात्मकमनुमानप्रपचारात्, तेन श्रोतरनुमानेनार्थबोधनात्। पक्षस्य विवादादेव गम्यमानत्वादप्रयोग इति सौगतः तमः यत्किश्चिद्वचनव्यवहितात ततो व्युत्पन्तमतेः पश्चप्रतीतावष्यन्यान् प्रत्यवश्यनिर्देश्यत्वात प्रकृतानुमानवाक्यावय-वान्तरैकवाक्यतापन्नात्तर्वोऽवगम्यमानस्य पक्षस्याप्रयोगस्य चेष्टत्वात । अवस्यं चाम्य-पगन्तव्यं हेतोः प्रतिनियर्वंधर्मिधर्मताप्रतिपन्यर्थस्रपसंहारवचनवत् साध्यस्यापि तद्र्थं पक्ष- 15 वचनं ताथागतेनापि, अन्यथा समर्थनोपन्यासादेव गम्यमानस्य हेतोरप्यनपन्यासवस-कात . मन्द्रमतिप्रतिपश्यर्थस्य चौभयत्राविशेषादिति । कि.श्र. प्रतिज्ञायाः प्रयोगानईन्वे जास्त्रादावर्ष्यसौ न प्रयुज्येत. दृश्यते च प्रयुज्यमानेयं ज्ञाक्यजास्त्रेऽपि । परानग्रहार्थं शास्त्र तत्त्रयोगश्च वादेऽपि तत्यः. विजिगीषणामपि मन्द्रमतीनामध्यप्रतिपत्तेस्तत एबोपपत्तेरिति ।

६ ४८. आगमात्वरेणैव जातस्य वचनं परार्थानुमानम्, यथा बद्धिरचेतना उत्पत्तिम-स्वात घटवदिति साङ्ख्यानुमानम् । अत्र हि बुद्धानुत्पत्तिमस्वं साङ्ख्याने(ख्येन) नैवाभ्यु-वगम्यते इतिः तदेतदवेजलमः बादिप्रतिबादिनोरागमप्रामाण्यविप्रतिपत्तेः. अन्यथा तत एव साध्यसिद्धिप्रसङ्कात । परीक्षापूर्वमागमाम्युपगमेऽपि परीक्षाकाले तद्वाधात । नन्वेवं भवद्भिरपि कथमापाद्यते परं प्रति 'यत सर्वथैकं तत नानेकत्र सम्बद्धते, तथा च सामान्य- 25 मं इति १ । सत्यम् : एकधर्मीपगते(मे) धर्मान्तरसन्दर्शनमात्रं(त्र)तत्परत्वेनैतदापादनस्य वस्तुनिश्चायकत्वाभावान् , प्रसङ्गविपर्यग्रह्णस्य मौलहेतोरेन तिकश्चायकत्वान , अनेकश्चि त्वव्यापकानेकत्वनिवृत्त्येव तिमृत्रतेः मौलहेतपरिकरत्वेन प्रसङ्कोपन्यासस्यापि न्याय्य-

१ विशेषामर्श∘-प्र∘ व॰। २ तुलना-प्र, न-३.२३.। ३-०मानशक्या०-सं० प्र०। व० प्रती 'बाक्यावय' इत्यादि पात: प्रथमं लिखितोऽपि पकात 'बाक्यावय' इत्यादिक्रपेण शोधितो दृत्यते । ४ तत:-विवादात् । इष्टब्य:-स्या. र. पृ० ५५० । ५ तुलना-प्र. न. ३. २४. ६ प्रतिनियतर्घार्मेता प्रति -- प्र० सं । १९ तदर्थपक्ष - सं । ८ - व्यक्ती न-सं । व्यक्ती न-प्र ।

स्वातः । बुद्धिरचेतनेत्यादौ च प्रसङ्गविपर्वयहेतोर्व्याप्तिसिद्धिनवन्धनस्य विरुद्धधर्माध्याः सस्य विवश्ववाधकप्रमाणस्यानुपस्थापनात् प्रसङ्गस्याप्यन्याय्यत्वमिति वदन्ति ।

६ ४९, हेर्तः साध्योपपस्यन्यथात्पपत्तिभ्यां द्विचा प्रयोक्तव्यः, यथा पर्वतो विद्व-मान , सत्येव वह्नी धुमोपपत्तेः असत्यनुपपत्तेर्वा । अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिष-5 सौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्रानुपयोगः।

६ ५०. पक्षंहेत्वचनलक्षणमवयवद्वयमेव च परप्रतिपस्यक्कं न दृष्टान्तादिवचनम . पश्चहेतव बनादेव परप्रतिपत्तेः, प्रतिबन्धस्य तर्कत एव निर्णयात् , तत्स्ररणस्यापि पश्चहेतद-र्श्वनेनेव सिद्धेः, असमर्थितस्य दृष्टान्तादेः प्रतिपत्त्यनङ्गत्वात्तत्समर्थनेनेवान्यथ।सिद्धेश्र । समर्थनं हि हेतोरसिद्धत्वादिदोशासिराकृत्य खसाध्येनाविनाभावसाधनम्, तत एव 10 च परप्रतीत्युपपत्ती किमपरप्रयासेनेति ?।

§ ५१. मॅन्दमतींस्त च्युत्वाद्यितुं दृष्टान्तादिश्रयोगोऽप्युवयुज्यते, तथाहि-यः खळ अयोपजमविज्ञेषादेव निर्णातपक्षा इष्टान्तस्मार्यप्रतिबन्धग्राहकप्रमाणस्मरणनिपणोsपरावयवाभ्यहनसमर्थश्र भवति, तं प्रति हेतरेव प्रयोज्यः । यस्य त नाद्यापि पक्ष-निर्णयः, तं प्रति पक्षोऽपि । यस्तु प्रतिबन्धग्राहिणः प्रमाणस्य न स्मरति, तं प्रति 15 दृष्टान्तोऽपि । यस्तु दार्ष्टान्तिके हेतुं योजयितुं न जानीते, तं प्रत्युपनयोऽपि । एवमपि साकाङ्क्षं प्रति च निगमनम्। पक्षादिस्वरूपविप्रतिपत्तिमन्तं प्रति च पक्षश्रद्धौटिकमपीति सोऽयं दशावयवी हेतः पर्यवस्यति ।

[ १९. हेतुप्रकाराणामुपदर्शनम् । ]

W. A. C. 24, 24 ६५२. ैर्स चार्य द्विविध:-विधिरूपः प्रतिषेधरूपश्च । 'तत्र विधिरूपो द्विविध:-20 विधिसाधकः प्रतिवेधसाधकश्च । तत्राद्यः वोद्यां, तद्यथा-कश्चिद्धाप्य एव. यथा अब्दोऽ-नित्यः प्रयत्ननान्तरीयकत्वादिति । यद्यपि व्याप्यो हेतुः सर्व एव, तथापि कार्याद्य-नात्र्मव्याप्यस्थात् (त्र ) ग्रहणाद्धेदः, वृक्षः श्लिशपाया इत्यादेरप्यत्रैवान्तर्भावः । केश्लि-त्कार्यरूपः, यथा पर्वतीऽयमग्रिमान् धूमवस्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्र धूमः, धूमी ह्याप्रेः कार्यभतः तदमावेऽनुपपद्यमानोऽभिं गमयति । कश्चित्कारणरूपैः, यथा वृष्टिभविष्यति. 25 विशिष्टमेघान्यथानुपपत्तेरित्यत्र मेघविशेषा, स हि वर्षस्य कारणं स्वकार्यभतं वर्षं गम-यति । ननु कार्याभावेऽपि सम्भवत् कार्णं न कार्यानुमापकम् , अत् एव न बह्विधेमं राम-यतीति चेतः सत्यमः वैरिमन्सामध्योप्रतिबन्धः कारणान्तरसाकल्यं च निश्चेतं शक्यते. तस्यैव कारणस्य कार्यानुमापकत्वात् । कश्चित् पूर्वचरैः, यथा उदेष्यति शकटं कचिको-

**१ तु**लना≕प्र. न. ३.**२९**–३**१।२** प्र. न. ३. ३२। ३ तुलना–प्र० न०३. २८, ३३-३६। ध तलना-प्र. न. ३. ४२ । ५ दिगम्बर्जनपरम्परायां पश्चवा छहिनं इत्यते । ६ तलना-प्र. न. ३. ५४-५५। ७ तुलना-प्र॰ न० ३. ६८-६९, ७७। ८-०व्याप्यः स्थात् प्र० सं०। ९ तुलना-प्र. न. ३. ७८ । **१०-**तुलना–प्र. न. ३, ७९, । **११** तुलना– प्र. न. ३. ७०, । **१२** तुलना प्र. न. ३, ८० ।

दयान्ययानुष्यचेरित्यत्र कृषिकोदयानन्तरं ब्रह्वर्धन्ते नियमेन अकटोद्यो जायत इति कृषिकोदयः पूर्वचरो हेतुः अकटोद्यं ममयति । कश्चित् उत्तरचरंः, यथोदमाद्भरणिः प्राक्, कृषिकोदयादित्यत्र कृष्टिकोदयः, कृषिकोदयो हि अरण्युदयोचरचरस्तं ममयतीति कालन्यवधानेनानयोः कार्यकारणान्यां मेदः । कश्चित् सहचरंः, यथा मातुलिङ्गं कृष्यद्भित्तर्वा । कश्चित् सहचरंः, यथा मातुलिङ्गं कृष्यद्भित्तर्वा । स्वत्यक्ष्यवा । स्वत्यक्ष्यवा । स्वत्यक्ष्यवा । स्वत्यक्ष्यवा । स्वत्यक्ष्यवा । स्वत्यक्ष्यवा । स्वत्यक्षया । स्वत्यक्षय । स्वत्यक्यव्यव्यक्षय । स्वत्यव्यव्यव्यव्यव्यव्यव्यव्य

१५२. द्वितीयस्तुं निवेषसायको विरुद्धीपळिष्यामा। स च स्वर्भावविरुद्धतद्व्याप्याधुपळिष्यभेदात् सप्तथा। यँया नास्त्येव सर्वथा एकान्तः, अनेकान्त- 10
स्योपळम्भात् । नास्त्यस्य तस्वीनःचयः, तत्र सन्देहात् । नास्त्यस्य क्रोधोपशान्तिः, वदनविकारादेः । नास्त्यस्यासत्यं वचः, रागाधकळिक्कित्तक्षनकिळित्वत्वत् ।
नोद्रमिष्यति स्वर्ह्यान्ते पुण्यतारा, रोहिण्युद्रमात् । नोद्यानस्वर्ह्यतेष्त्रं मृगश्चिरः,
पूर्वकारिक्ञ्युत्यात् । नास्त्यस्य मिष्याञ्चानं, सम्यन्दर्शनादिति । अत्रानेकान्तः
प्रतिषेच्यस्यकान्तस्य स्वभावतो विरुद्धः । तस्त्यन्देह्य प्रतिषेच्यतस्यनिश्चयविरुद्धः 15
तदिन्ययव्याप्यः। वदनविकारादिश्व क्रोधोपश्चमविरुद्धत्युपश्चमकार्यम् । रागाधकळिक्कितञ्चानकळित्वतं चासत्यविरुद्धस्यकारणम् । रोहिण्युद्रमञ्च पुण्यतारोद्धमविरुद्धमृगश्चीयित्यपूर्वयः। पूर्वकर्युपश्चस्य मृगश्चीविर्यविरुद्धमधेद्योग्तर्थरः। सम्यग्दर्शनं च मिष्याञ्चानविरुद्धसम्यम्बानसहवरमिति।

६५४. प्रतिषेचरूपोऽपि हेतुर्द्विषिधः-विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्चेति । जांदो 20 विरुद्धानुपलन्धनामा विधेयविरुद्धकार्यकारणस्वभावन्यापकसद्दवरातुपलम्भमेदारपञ्च- धा। यथा अस्त्यत्र रोगातिश्चयः, नीरोगन्यापारानुपलन्धः। विध्यतेऽत्र कष्टम्, इष्टसंयी- गामावात्। वस्तुजातमनेकान्तारमकम्, एकान्तस्वभावानुपलम्मात्। अस्त्यत्र च्छाया, औष्ण्यानुपलन्धः। अस्त्यत्र मिध्याञ्चानम्, सम्यग्दर्शनानुपलन्धेरिति।

६ ५५. द्वितीयोऽविरुद्धात्रपळिवनामां प्रतिषेष्याविरुद्धस्वभावन्यापककार्यकारणः 25 पूर्ववरोत्तरवरसहवरातुषळिविस्तेत् सप्तथा। यथा नास्त्यत्र भृतले कुम्मः, उपलिध-लक्षणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्यातुपळम्भात् । नास्त्यत्र पनद्यः, पादपातुपळम्धेः । नास्त्य-त्राप्रतिहतशक्तिकम् वीजम्, अक्कुरानवलोकनात् । न सन्त्यस्य प्रश्वमप्रमृतयो मावाः, तत्त्वार्यश्रद्धानाभावात् । नोद्गमिष्यति श्रुहुर्जन्ते स्वातिः, वित्रोदयादर्शनात् । नोद-

१ तुलना-प्र. न. ३. ८१. । २ तुलना-प्र. न. ३. ८९। ३ तुलना-प्र. न. १. ८२। ४ तुलना-प्र. न. १. ७६ । ५ तुलना-प्र. न. १. ८२-९२। ६ तृष्टक्षसम्बादध्यापकशर्यकारापूर्व वरोत्तरप्रतृक्षसपेश्वरमभेदास्त्रसम्भा ७ तुल्ला-प्र. न. १. ८४,८५,८५-९२। ६ पूर्वासास्त्र-प्र. । ९ तुलना-प्र. न. १. १०२-१०९। १० तुल्ला-प्र. न. १. ९४-१०२।

गमस्पूर्वभद्रपदा श्रृहुर्वास्युर्वम्, उत्तरभद्रपदोद्धमानवगमात् । नास्त्यत्र सम्यग्झानम्, सम्यग्दर्श्वनातुपरूच्येरिति । सोऽयमनेकवियोऽन्यथाञ्चपप्रयेकलक्षणो हेतुरुक्तोऽतोऽन्यो हेस्बामासः ।

## [२०. हेत्वाभासनिरूपणम् । ]

§५६. स त्रेषां-असिद्धविरुद्धानैकान्तिकभेदात् । तत्राप्रतीयमानस्वरूपो हेतुर5 सिद्धः । स्वरूपाप्रतीतियाज्ञानात्स्वन्देहाद्विपर्ययाद्धा । स द्विविधः-उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्ध्य । आयो यथा अन्दः परिणामी चाक्षुपत्वादिति । द्वितीयो यथा अनेतनास्तरदाः, विज्ञानेन्द्रियाधुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वात् , अनेतनाः सुखादयः उत्पत्तिमन्त्वादिति वा ।

६ ५७. तन्वन्यवरासिद्धी हेत्वाभास एव नास्ति, तथाहि-परेणासिद्ध इत्युद्धाविते

यदि वादी न तत्साधकं प्रमाणमाचक्षीत, तदा प्रमाणामाचाहुभयोरप्यसिद्धः । अथाचक्षीत तदा प्रमाणस्वापक्षपातित्वाहुमयोरिष सिद्धः । अय यावन परं प्रति प्रमाणेन
प्रमाण्यते, तावनं प्रत्यसिद्ध इति चेतः गौणं तक्षसिद्धत्वम्, न हि रत्नादिपदार्थस्तचतोऽप्रतीयमानस्तावन्तमिष कालं मुख्यतया तदाभामः । किञ्च, अन्यवरासिद्धो यदा
हेन्नामासस्तदा वादी निगृहीतः स्पात्, न च निगृहीतस्य प्रवादनिग्रह इति युक्तम् ।

वि नापि हेत्समर्थनं पश्चायुक्तम्, निगृहीन्तवादादस्येति । अत्रोच्यते-यदा वादी सम्यग्चेतुत्वं प्रतियद्यमानोऽपि तस्तमर्थनन्यायविन्यास्ति निग्नियत्व प्रतिवादिनं प्राक्षिकान्
वा प्रविचोषयितं न शक्नोति, असिद्धतामिप नाजुमन्यते, तदान्यतरासिद्धन्वेनैव निगृक्रिते। तथा, स्वयमतम्युपगतोऽपि परस्य सिद्ध इत्येतावानी(इत्येवावत्वे)योपन्यस्तो हेतुरन्यतपासिद्धो निग्रहाधिकरणम्, यथा साङ्ख्यस्य तैनं प्रति 'अचेतनाः सुखादय उत्यिन्

ग मचात् घटनतः इति ।

§ ५८. साध्यविषरीतच्याप्ते विरुद्धः। यथा अपरिणामी श्रन्दः कृतकत्वादिति । कृतकत्वं सपरिणामित्वविरुद्धेन परिणामित्वेन च्याप्तमिति ।

१५९. यस्यान्ययानुपपितः सन्दिয়ते सोऽनैकान्तिकः । स द्वेघा - निर्णातिविषक्ष-इत्तिकः सन्दिग्धविपश्चष्टत्तिकश्च । आधो यया नित्यः श्रन्दः प्रमेयत्वात् । अत्र हि 25 प्रमेयत्वस्य वृत्तिर्नित्ये न्योभादौ सपश्च इव विपश्चेऽनित्ये घटादाविष निश्चिता । द्वितीयो यथा अभिमतः सर्वज्ञो न मवति वक्तृत्वादिति । अत्र हि वक्तृत्वं विपश्चे सर्वज्ञे संदिग्ध-इत्तिकम्, सर्वज्ञः किं वक्ताऽऽहोस्विकेति सन्देहात् । एवं स त्र्यामो मित्रापुत्रत्वादित्या-धप्युदाहार्यम् ।

§ ६०. अकिश्चित्कराख्यश्रतुर्थोऽपि हेत्वामासमेदो धर्मभूषणेनोदाहृतो न श्रद्धेयः।

१ दुलना प्र. न. ६. ४७। २ दुलना–प्र. न. ६. ४८–५१। ३ ~ इत्येतावामेनोप० – छं०। ४ दुलना– प्र. न. ६. ५२, ५३। ६ दुलना–प्र. न. ६. ५४–५७।

सिद्धसाचनो बाधितविषयश्रेति द्विविषस्याप्यत्रयोजकाह्वयस्य तस्य प्रतीत-निराकृता-स्वपञ्चामासमेदानितिरकत्वात् । न च यत्र पञ्चतोषस्तत्रावस्य हेतुदोषोऽपि वाच्यः, दृष्टान्तादिदोषस्याप्यवस्य बाच्यत्वापषेः । एतेन कालात्ययापदिष्टोऽपि अत्युक्तो वेदितच्यः । प्रकरणसमोऽपि नातिरिच्यते, तुल्यवलसाच्य तद्विपर्ययसाषकहेतुद्वयरूपे सत्यस्मिन् प्रकृतसाच्यसाधनयोरन्ययातुप्यस्यनिश्चयेऽसिद्ध यवान्तर्मावादिति सञ्चेषः । 5

#### [ २१. आगमप्रमाणनिरूपणम् । ]

- ६६१. आप्तेवचनादाविर्भृतमर्थसंवेदनमागमः । न च व्याप्तिग्रहणबलेनार्थप्रति-पादकत्वाद् धूमवदस्यातुमानेऽन्तर्भावः, कूटाकूटकार्धापणनिरूपणप्रवणप्रत्यस्वदस्यास-दशायां व्याप्तिग्रहनैरपेस्येणैवास्यार्थबोधकत्वात् । यथास्यितार्थप्रतिज्ञानपूर्वकहितोपदेश-प्रवण आप्तैः । वर्णपद्वाक्यात्मकं तद्वचनम् । वर्णोऽकारादिः पौद्रलिकः । पदं सङ्केत- 10 वत् । अस्योऽन्यापेक्षाणां पदानां सञ्चदायो वाक्यम् ।
- § ६२. तेदिदमागमप्रमाणं सर्वत्र विधित्रतिषेषाभ्यां स्वार्थमिमद्द्यानं सप्तमङ्गीमजुः गच्छति, तमैव परिपूर्णार्थत्रापकत्वलक्षणतास्विकप्रामाण्यनिर्वाहात्, क्रिबिदेकशक्दर्शलेऽपि ब्युत्पन्नमतीनामितरभङ्गाक्षेपप्रौन्यात् । यत्र तु षटोऽस्तीत्यादिलोकवाक्ये सप्तमङ्गी-संस्पर्श्वज्ञून्यता तत्रार्थप्रापकत्वमात्रेण लोकापेक्षया प्रामाण्येऽपि तस्वतो न प्रामाण्यमिति 15 द्रष्टव्यम् ।

#### [ २२. सप्तमङ्गीस्वरूपचर्चा । ]

६ ६३. केयं सप्तमञ्जीति चेद्रुच्यते – एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवद्यादिवरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिवधयोः कल्यनया स्वात्काराङ्क्तिः सप्तधा वाक्ष्रयोगः सप्तमञ्जी ह्यं च सप्तमञ्जी वस्तुनि त्रतिपर्यायं सप्तविधमणीणां सम्मवात् सप्तिविध- 20 संग्रयोग्थापितसप्तिवधिकासामृञ्जसप्तिवधत्रभानुरोधादुपयद्यते । तत्र स्यादस्त्येव सर्व- मिले प्राधान्येन विधिकत्पनया प्रथमो मङ्गः । स्यात्—कधिकात् स्वद्रुच्यक्षेत्रकालभावा- पेश्वयेल्य्यः । अस्ति हि घटादिकं द्रुच्यतः पार्थिवादित्वेन, न जलादित्वेन । क्षेत्रतः पाटिश्वश्वकादित्वेन, न कान्यकुच्यतित्वेन । कान्यतः देशिकादित्वेन, न वासन्तिका- दित्वेन । भावतः स्थामादित्वेन, न सक्तादित्वेनि । एवं स्थाश्चास्ययेन सर्वमिति प्राधा- 25 स्थिन निवेधकत्यनया दित्योयः । न चास्यकं कान्यनिकमः ; सच्चवत् तस्य स्वातन्त्र्येणातुम- वात् , अन्यथा विषद्यास्वस्य तास्विकरपामावेन हेशोश्चरप्तपात्रप्तश्चात् । स्थान्यस्य विपद्यास्ययेन क्रिकास्ययेन क्रिकास्ययेन क्रिकास्ययेन विधिनिवेधकत्यनया चतुर्यः । स्वाद्यक्तव्य- मेविति प्राधान्येन विधिनिवेधकत्यनया चतुर्यः, एकेन पदेन प्रवाद्यस्योर्वक्तम-

१ प्र. त. ४.९। १ तुकता– प्र. त. ४.४। १ तुकता– प्र. त. ४.८,९। ४ तुकता– प्र. त.४.९०। ५ तुकता– प्र. त.४.९२। १ प्र. त. ४.९४। ७ तुकता– प्र. त.४.१७– ४२। क्षातुकता– प्र. त.४.१५। ४.९५। ९ तुकता– प्र. त.४.९६। १० तुकता– प्र. त.४.९०। ११ तुकता– प्र. त.४.९८।

श्वन्यस्वात् । श्रवृशानंश्ची सदित्यादौ साङ्केतिकपदेनापि क्रमेणार्थद्वपवीघनात् । अन्यतर-स्वादिना कथाश्चादुमयबोधनेऽपि प्रातिस्विकरुपेणैकपदादुमयबोधस्य म्रक्कणापि दुरुपपा-दस्वात् । स्वाद्सस्येव स्याद्वकच्यमेवेति विधिकरूपनया युगपद्विधिनिषेधकरुपनया च पश्चमैं: । स्वाश्वास्त्येव स्याद्वकच्यमेवेति निषेधकरुपनया युगपदिधिनिषेधकरुपनया 5 च षष्टैं: । स्वाद्वस्येव स्याक्षास्त्येव स्याद्वकच्यमेवेति विधिनिषेधकरुपनया युगप-विधिनिषेधकरुपनया च सप्तमै इति ।

§ ६४. सेयं सप्तमङ्की प्रतिभङ्क(ङ्क) सकलादेशस्त्रमाता विकलादेशस्त्रभावा चे ।
तत्र प्रमाणप्रतिपद्मानन्त्रधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरमेदवृत्तिप्राधान्यादमेदोपचाराद्वा
योगप्रधेन प्रतिपादकं वदः सकलादेशः । नयिषयीकृतस्य वस्तुधर्मस्य मेदवृत्तिप्रधानः
10 न्याद्वेदोपचाराद्वा क्रमेणाभिधायकं वाक्यं विकलादेशः । नतु कः क्रमः, किं वा
योगर्पद्मम् १ । उच्यते—यदास्तित्वादिधर्माणां कालादिभिर्मेदविवक्षः तदैकश्चन्दस्यानेकाध्रप्रलायने श्रुच्यभावात् क्रमः । यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरमेदेन वृत्तमास्मह्रयद्वच्यते तदैकेनापि श्चन्देनैकधर्मप्रत्यायनश्चलेन तदात्मकतामापश्चस्यानेकाशेपहर्षस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवाद्योगपद्मम्।

१६५. के प्रनः कालादयः १। उच्यते-काल आत्मस्यमर्थः सम्बन्ध उपकारः 15 गणिदेशः संसर्गः शब्द इत्यष्टौ । तत्र स्याजीवादि वस्त्वस्त्येवेत्यत्र यत्कालमस्तित्वं त्वत (तत )कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तन्येकन्नेति तेषां कालेनाभेदवत्तिः । यदेव चास्ति-त्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेवान्यानन्तगुणानामपीत्यात्मरूपेणाभेदवृत्तिः । य एव चाधारे(री)ऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः । य एव 20 चाविष्वरभावः सम्बन्धोऽस्तित्वस्य स एवान्येवामिति सम्बन्धेनाभेदवृत्तिः । य एव चोपकारोऽस्तित्वेन स्वात्रसक्तत्वकरणं स एवान्यैरपीत्यपकारेणाभेदवृत्तिः । य एव गुणिनः सम्बन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य स एवान्येषामिति गुणिदेशेनामेदवृत्तिः । य एव चैकवस्त्वात्मनाऽस्तित्वस्य संसर्गः स एवान्येषामिति संसर्गेणामेदव्रचिः। गुणीभत-भेदादभेदप्रधानात सम्बन्धाद्विपर्ययेण संसर्गस्य भेदः । य एव चास्तीति शब्दोऽस्ति-25 त्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एवाश्चेषानन्तधर्मात्मकस्यापीति शब्देनामेदवृत्तिः. पर्यापार्थिकनयगुणमावेन द्रव्यार्थिकनयप्राधान्याद्रपपद्यते । द्रव्यार्थिकगुणमावेन पर्या-यार्थिकप्राधान्ये त न गुणानाममेदब्रचिः सम्भवति, समकालमेकप्र नानागणानामसम्भ-वात्, सम्भवे वा तदाश्रयस्य मेदप्रसङ्खात् । नानागुणानां सम्बन्धिन आत्मरूपस्य च भिन्नत्वात्, अन्यया तेषां मेदविरोघात्, स्वाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वात्, अन्यथा 80 नानागुणाश्रयत्वितरोषात् । सम्बन्धस्य च सम्बन्धिमेदेन मेददर्शनात्, नानासम्बन्धि-

१ – वनची – स्ताकराव ४, १८।६ प्र. न. ४, १९.। ६ प्र. न. ४. २०। ४ तुलना प्र. न. ४, २१। ५ तुलना प्र. न. ४. ४३। ६ प्र. स. ४. ४४। ७ तुलना – प्र. न. ४, ४५। ४ द्रष्टम्मा – स्ताकराव ४, ४४।

भिरेक्ष्मैकसम्बन्धायटनात् । तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्यानेकत्वात् , अनेकैक्ष्मकारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्यैकस्य विरोधात् । गुणिदेशस्य च प्रतिगुणं भेदात् , तदभेदे भिकार्थगुणानामपि गुणिदेश्वामेदप्रसङ्गात् । संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गि भेदात् , तदभेदे संसर्गिमेदविरोधात् । शब्दस्य प्रतिविषयं नानात्वात् , सर्वगुणानामेक्ष्मस्याच्यतायां सर्वार्थानामेकश्वस्याच्यतायां सर्वार्थानामेकश्वस्याच्यतायां सर्वार्थानामेकश्वस्याच्यतायां सर्वार्थानामेकश्वस्याच्यतायां सर्वार्थानामेकश्वस्याच्यतायां सर्वार्थानामेकश्वस्याच्यतायां सर्वार्थानामेकश्वस्याच्यतायां सर्वार्थानामेक्षेत्रयः क्रियते । एवं मेदश्चितद्वयवारावाये वाच्याविति । पर्यवसितं परोक्षम् । तत्रश्च निक्रिपतः प्रमाणपदार्थः ।

इति महामहोपाध्यायश्रीकत्याणविजयगणिशिष्यगुरूयपण्डितश्रीक्षश्रविजयगणिशिष्यावर्त-सपण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्ष्यपण्डितश्रीनयविजयगणिशिष्येण पण्डितश्रीपद्म-

विजयगणिसहोदरेण पण्डितयशोविजयगणिना कृतायां जैनतर्रु-भाषायां प्रमाणपरिच्छेदः सम्पूर्णः।

\*\*\*\*\*

# २. नयपरिच्छेदः।

[ १. नयानां स्वरूपनिरूपणम् । ]

§ १. प्रमाणान्युक्तानि । अथ नया उच्यन्ते । प्रमाणपरिच्छिकस्यानन्तपर्भात्म-कस्य वस्तुन एकदेशम्राहिणस्तदितरांश्राप्रतिश्लेषिणोऽध्यवसायविशेषा नयाः । प्रमाणे- 15 कदेशत्वात् तेषां ततो मेदः । यथा हि सम्बद्धैकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रस्त्वया नया अपि न प्रमाणं न वाऽप्रमाणमिति । ते च द्विषा - द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकमेदात् । तत्र प्राधान्येन द्रव्यमात्रमाही द्रव्यार्थिकः । प्राधान्येन पर्यायमात्रमाही पर्यायार्थिकः । तत्र द्रव्यार्थिकस्त्रिषा नैगमसङ्गहत्यवहारमेदात् । पर्यायार्थिकश्तुषां ऋतुश्चनश्चन्दसमिक्-दैवंभृतमेदात् । ऋतुस्त्रो द्रव्यार्थिकस्यैव मेद इति तु जिनसद्रगणिश्वमाश्रमणाः । 20

§ २. तत्र र्सामान्यविशेषाद्यनेकचर्मोपनयनपरोऽज्यवसायो नैगमः, यथा पर्या-ययोर्द्रच्ययोः पर्यायद्रच्ययोश्र मुख्यामुख्यस्यतया विवक्षणपरः। अत्र सचैतन्यमात्मनीति

१ तलना-प्र. न. ७. १ ।

```
२ तुक्ता-''वाप्रवाणं प्रमाणं वा नये कातात्रको सतः।
स्वारक्षमणेवदेवास्तु वर्षवाप्यविरोधतः॥
ताथं वस्तु वनास्त्रद सत्वेशः क्ष्यते यतः।
नाध्यप्रद नवास्त्रद सत्वेशः क्ष्यते यतः।
नाध्यप्रद समुद्रो वा चमुत्रांचो वर्षोच्यते॥'' तत्त्वार्यस्त्रोक्षाः १.६,२९,५।
हे तुक्ता-प्र. न. ७. ५। धे तुक्ता-प्र. न. ७. ६। ५ तुक्ता-प्र. न. ७, २७।
हे तुक्ता-प्र. न. ७, ७।
''युक्तप्रवानक्षते' वर्षावदाक्षतिः।'' वर्षोचः ६.१८। तत्त्वावस्त्रोक्षाः १.६३,२९।
विवक्षाः नैममोऽक्षन्तमेवीकः स्वातदाक्षतिः॥'' वर्षोचः ६.१८। तत्त्वावस्त्रोक्षवाः १.३३,२९।
```

- § ३. सामान्यमात्रम्राही परामर्थः सङ्गहैं-स द्रेषा, परोऽपर्र्य । तत्राशेषविशेषे-10 ष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमिमन्यमानः परः सङ्गहैं: । यथा विश्वमेकं सद्विशेषादितिं । द्रव्यत्वादीन्यवान्तरसामान्यानि मन्त्रानस्त्रदेखु गजनिमीलिकाम-बलम्बमानः पुनरपरसङ्गहेः । सङ्गहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिष्वकमवहरणं येनाभि-सम्बिना क्रियते स व्यवदारिः । यथा यत् सत् तद् द्रव्यं पर्यायो वे। यद् द्रव्यं तजीवादि षरिष्म । यः पर्यायः स द्विविधः-क्रममानी सहमानी चेत्यादि ।
- 15 ६४. श्रें वर्तमानश्रणस्यापिपर्यायमात्रं प्राधान्यतः स्वत्यसमित्राय ऋजुसृतः। यशा सुस्तिवर्तः सम्प्रत्यस्ति । अत्र हि श्रणस्याचि सुस्तास्त्यं पर्यायमात्रं प्राधान्येन प्रदम्प्रेते, तद्विकरणभूतं पुनरात्मद्रन्यं गौणतया नाप्येत इति ।
- ५ ५. कैंगलादिमेदेन घ्वनेर्स्थमेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः । कालकारकलिङ्गसङ्ख्या-पुरुषोपसर्गाः कालादयः । तर्त्रे बभ्व भवति भविष्यति सुमेरुरित्यत्रातीतादिकालभेदेन 20 सुमेरोभेदप्रतिपत्तिः, करोति क्रियते कुम्भ इत्यादौ कारकमेदेन, तटस्तटी तटमित्यादौ लिङ्गमेदेन, दाराः कलत्रमित्यादौ संख्याभेदेन, यास्पति त्वस्, यास्पति भवानित्यादौ पुरुषमेदेन, सन्तिष्ठते अवतिष्ठते इत्यादाबुष्सर्गमेदेन ।
  - ६६. पेर्पायशब्देषु निरुक्तिमेदेन भित्रमर्थं समिमरोहन् समिम्हदः। शब्दनयो हि पर्यायमेदेऽप्यर्थामेदममित्रैति, समिम्हदस्त पर्यायमेदे भिन्नानर्थानश्चिमन्यते।

दे दुजना-त्र. न. ७. ८। तत्त्वार्यस्त्रोक्षना० १. ३३. ३३, ३३ । ३ तुकना-त्र. न. ७. ९। तत्त्वार्यक्रीक्षना० १. ३३. ४३. १४ तुकना-त्र. न. ७. ९। तत्त्वार्यक्रीक्षना० १. ३३. ४३. १४ तुकना-त्र. न. ७. १९। दुजना-त्र. न. १९। ६ तुकना-त्र. न. १९। ६ तुकना-त्र. न. १९। ६ तुकना-त्र. न. ७. १९। १६ तुकना-त्र. न. ७. १९। तुकना-तत्त्वार्यक्रीक्षना० १. ३३. ६९। १६ तुकना-तत्त्वार्यक्रीक्षना० १. ११ तुकना-तत्त्वार्यक्रीक्षना० १. ३१. ६८ ७४। तुकना-तत्त्वार्यक्रीक्षना० १. ३१. ४५. ७५। तुकना-तत्त्वार्यक्रीक्षा० १. ३१. ४५. ७५।

अमेदं त्वर्षेगतं पर्यायश्रन्दानाञ्चपेश्वत इति, यथा ईन्दनाहिन्द्रः, श्रक्ताच्छकः, पूर्दा रणात्पुरन्दर इत्यादि ।

- ६७. जैन्दानां स्वत्रवृषिनिमित्तभृतिक्रयाविष्टमर्थं बाच्यत्वेनाश्युपमच्छन्नेवस्भूतः । ययेन्द्रनमलुमविष्टम् । समिभिरुद्धन्यो हीन्द्रनादिक्रियायां सत्यामसत्यां च वासवादे-र्थस्येन्द्रप्रद्धिम् विष्टाम् स्वयामसत्यां च वासवादे-र्थस्येन्द्रप्रदेशमित्रेवित, क्रियोपलक्षितसामान्यस्यैन प्रवृत्तिमित्तत्वात्, पश्च- 5 विश्वेषस्य गमनिक्रयायां सत्यामसत्यां च गोव्यपदेशवत्, तथारुद्धः सद्भावात् । एव-स्मृतः पुनिस्द्रनादिक्रियापिणतमर्थं तिस्त्रयाकाले इन्द्रादिक्यपदेशमाजमित्रमत्यते । न हि कश्चिद्वित्यापर्थन्द्रोप्ट्यास्ति । गौर्ष्य इत्यादिज्ञातिश्वरामित्रतानमपि क्रियाश्च इद्द्रवात्, गच्छतीति गौः, आशुगामित्वादश्च इति । श्चक्को, नील इति गुणश्च-द्राभिम् मता अपि क्रियाश्चन्द्रा एव, गुणश्च-वित्ता । वित्रद्योप्ति । वित्रद्यान् व्यक्ष्त्रव्यान्ति । वित्रव्यामस्ति । विष्टिप्ति । विष्ट्यान् व्यक्ष्ति । विष्ट्यान्ति । विष्ट्यान्ति । विष्ठिष्ट्यान्ति । विष्ट्यान्ति । व्यवद्यान्ति । विष्ट्यान्ति । विष्ट्रान्ति । विष्ट्यान्ति । विष्ट्रान्ति । विष्ट्यान्ति । विष्ट्रान्ति ।
- १८. ऐतेन्बाधाश्वस्वारः प्राधान्येनार्थगोवस्तादर्धनयाः अन्त्यास्तु त्रयः प्राधान्येन शब्दगोवस्त्वाच्छन्दनयाः । तथा विशेषप्राहिणोऽर्षितनयाः, सामान्यश्राहिणश्चानपितनयाः । तत्रानर्षितनयमते तृत्यमेव रूपं सर्वेषां सिद्धानां भगवत।म् । अर्षितनयमते
  त्वेकद्वित्रवादिसमयसिद्धाः स्वसमानसमयसिद्धैरेव तृत्या इति । तथा, लोकप्रसिद्धार्थानुवादपरो व्यवहारनयः, यथा पश्चस्विप वर्णेषु अर्मरे सत्सु त्र्यामो अमर इति व्यपदेशः ।
  तात्त्वकार्थाभ्युपगमपरस्तु निश्चयः, स पुनर्यन्यते पश्चवणों अमरः, वाद्रस्कन्यत्वेच 20
  तच्छरीरस्य पश्चवर्णपुद्गलैर्निष्पन्तवात्, शुक्कादीनां च न्यग्भृतत्वेनात्रुपलक्षणात् । अथवा
  एकत्रयमतार्थग्राही व्यवहारः, सर्वनवमत्यापि स्वार्थस्य तेन प्राधान्याभ्युपगमपराश्च
  प्रमाणत्वेन नयत्वव्यादातः, सर्वनवमत्यापि स्वार्थस्य तेन प्राधान्याभ्युपगमपराश्च
  प्रमाणत्वेन नयत्वव्यादातः, सर्वनवमतस्यापि स्वार्थस्य तेन प्राधान्याभ्युपगमपराश्च
  विष्या, ज्ञानमात्रप्राधान्याभ्युपगमपराश्च
  प्रमाणविन, तस्या एव मोश्च प्रत्यव्यविष्यारित्रलख्यायाः निमसमंग्रह्व्यवहारास्तु यद्यिष्
  वारित्रश्चतसम्यत्वानां त्रयाणामपि मोश्चकारणत्वान्विन्छन्ति, तथापि व्यस्तानामेव, न
  तु समस्तानाम्, एतन्मते ज्ञानादित्रयादेव मोश्च इत्यनियमात्, अन्यया नयस्वहानिप्रसङ्गतः सम्बद्धत्वादस्य स्थिपश्चलादिति द्रष्टव्यम् ।

१ तुकना प्र. न. ७. २०। ३ प्र. न. ७. ४०,४१ । तुकना-तत्त्वार्थकोक्का० १. ३३. ७८, ७९। ३–०त्त्र च समन०-प्र० व०। धे-०क्कत्यः स०-सं०। ० व्यव्हा स०-प्र०। ५ तुकना-प्र. न. ७. ४४। तत्त्वार्थकोक्का० १,३३.८९। ६-०प्रमेशयु सञ्च-सं० प्र०।

६९. कः पुनरत्र बहुविषयो नयः को वाञ्च्यविषयः १, इति वेदुच्येते-सन्मात्रगोवरात्संग्रहात्त्रावर्षमभा वहुविषयो मावामावभूमिकत्वात् । सद्विश्रेषप्रकाशकाश्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समृहोपदर्श्वकत्वाद्व्रह्विषयः । वर्तमावविषयावलिष्य त्राक्षश्रास्कालत्रितयवर्त्यर्थे आतावलम्बी व्यवहारो बहुविषयः । कोलादिमेदेन भिन्नाथोपदेशकाकल्प्यत्विष्य त्रित्वेदक ऋत्वस्यो बहुविषयः । न केवलं कालादिमेदेनेवर्ज्यस्य त्रस्याद्वर्षा वह्यस्य, किन्तु भावषटस्यापि सद्धावास्त्रावादिनाऽर्यितस्य स्वाद् घटः स्याद्वर्ष्य ह्वादिमङ्गपरिकरितस्य नेनाम्प्रयुपमात् त्यस्य वृद्धावाद् विशेषिततरत्वोद्यात् । ययपीदश्वसम्पर्यक्षसमङ्गपरिकरितं वस्तु स्याद्वादिन एव सङ्गित्नेत, त्यापि ऋत्यस्त्रकृतेतदप्रयुपमापश्चयाऽज्यतरमङ्गेन विशेषित्रविपत्तिस्य हिष्यर्थनाः इति वदन्ति । प्रतिपर्यापः
श्वरमर्थभेदमभीप्सतः समिक्टाच्छन्दस्त्विषया (द्विपर्यया) त्यायावाद्वराव्यत्वाद्विषयः । प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवस्भृतात्समभिक्टः तदन्यथार्थस्थापकत्वाद्वद्विषयः ।

६१०. नर्यवास्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधिप्रतिवेधाभ्यां सप्तमङ्गीमनुगच्छति, विकलादेशस्वात्, परमेतद्वास्यस्य प्रमाणवास्याद्विशेष इति द्रष्टच्यम् ।

## [२. नयाभासानां निरूपणम्।]

दुकना-प्र. न. ७. ४६-५२ । खर्चार्य-१ ३३ । तस्वार्यकोक्सा-१, ३३, ८२-८६ । स् तुकना-प्र. न ७. ५३. । इ. तुकना-प्र. न. ७. ११, १२ । तस्वार्य-श्रोक्सा-१, १३, १४, १६, १४, १४, १४, १४, १४ । स्वत्रा-प्र. न. ७, १५, १६, १४, १४, १४ । स्वत्रा-प्र. न. ७, १५, १६ । स्वत्राय-५ । तस्वार्यकोक्सा-१, १३, १४-५४, ५५ । स्वत्राय-प्र. न. ७, १५, १६ । स्वत्राय-५, १५ । स्वत्राय-प्र. न. ७, १५, १६ । स्वत्राय-प्र. न. ७, १५, १६ । स्वत्राय-प्र. न. ७, १५, १६ । स्वत्राय-प्र. न. ७, १५ । तस्वार्यकोक्सा-१, १३, १६ । ८ तक्षातस्वर्य-व-प्र. न. ७, १५, १६ । तस्वार्यकोक्सा-१, १३, १६ । १६ तुकना-प्र. न. ७, १४, १५ । तस्वारकोक्सा-१, १३, १६ । १६ तुकना-प्र. न. ७, १४, १५ ।

नाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपश्चेत्रभूताभासः, येथा विशिष्टचेष्टाश्च्यं वस्तु न पटश्चन्दवाच्यं, घटश्च्यं वस्तु न पटश्चन्दवाच्यं, घटश्च्यं वस्तु न पटश्चन्दवाच्यं, घटश्च्यं वस्तु न पटश्चन्दवाच्यं, घटश्चम्याय्यं प्रतिक्षेपी अर्थन्याभासः । अर्वितमिष्दय्वतिक्षेपी अर्थन्याभासः । अर्थितमिष्दयद्वितं प्रतिक्षिपश्चनिर्वासासः । लोकन्यवहारमम्युपगम्य तस्त्रप्रतिक्षेपी न्यवहारमासः । तस्त्रमम्युप- व वस्त्रप्रतिक्षेपी न्यवहारमासः । तस्त्रमम्युप- व वस्त्रप्रतिक्षेपी न्यवहारमासः । तस्त्रमम्युप- व वस्त्रप्रतिक्षेपी निष्ययाभासः । ज्ञानमम्युपगम्य क्रियाप्रतिक्षेपी ज्ञाननयामासः । क्रियामम्युपगम्य क्रियाप्रतिक्षेपी ज्ञाननयामासः ।

इति महामहोपाध्यायश्रीकस्याणविज्ञयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्रीलाभविज्ञयगणिशिष्या-वतंसपण्डितश्रीजीतविज्ञयगणिसतीध्येपण्डितश्रीनयविज्ञयगणिशिष्येण पण्डितश्रीपद्मविज्ञयगणिसहोद्रेण पण्डितयशीविज्ञयगणिना विरिचतायां जैनतर्कभाषायां नयपरिच्छेदः सम्पूर्णः।

-

# ३. निक्षेपपरिच्छेदः ।

#### [ १. नामादिनिःक्षेपनिरूपणम् । ]

- ६१. नया निरूपिताः। अथ निःक्षेषा निरूप्यन्ते। प्रकरणादिवशेनाग्रतिषस्या-(रया)दिव्यवच्छेदकयथास्थानविनियोगाय शब्दार्थरचनाविशेषा निःक्षेषाः। मङ्गलादि- 15 पदार्थनिःक्षेपाञ्चाममङ्गलादिविनियोगोपपचेश्च निःक्षेषाणां फलवच्चम्, तदुक्तम्-"अम-स्तुनार्थोपाकरणात् प्रस्तुनार्थव्याकरणाच निःक्षेषः फलवान्" [ व्यो० स्ववि० ७. २ ] इति । ते च सामान्यतञ्जतुर्था-नामस्थापनाद्रव्यमावमेदात्।
- ६२. तत्र प्रकृतार्थानरपेक्षा नामार्थान्यतरपरिणितर्नामिनःक्षेतः। यथा सङ्केतितमात्रेणान्यार्थिस्यतेनेन्द्रादिश्चन्देन नाच्यस्य गोपालदारकस्य श्रकादिपर्यायश्च्दानमि- 20
  थेया परिणितिरेपमेव ना यथान्यत्रावर्तमानेन यटच्छाप्रश्चतेन डित्यडविस्थादिशच्देन
  नाच्या। तत्त्रतोऽर्थिनष्ठा उपचारतः शब्दिनष्ठा च । मेर्नादिनामापेक्षया यानद्रव्यमाविनी, देवदत्तादिनामापेक्षया चायानद्रव्यमानिनी, यथा ना पुस्तकपत्रचित्रादिलिखिता नस्त्वभिधानभूतेन्द्रादिवर्णावली ।
- ६२. यमुं वस्तु तद्धेवियुक्तं तद्भिप्रायेण स्थाप्यते चित्रादौ तादशकारम्, 25 अक्षादौ च निराकारम्, चित्राधपेश्वयेत्वरं नन्दीश्वरचैत्यप्रतिमाधपेश्वया च यावत्कथिकं स स्थापनानिःश्वेषः, यथा जिनप्रतिमा स्थापनेन्द्रः।
  - § ४. भृतेस माविनो वा भावस कारणं यश्चिक्षिप्यते स द्रव्यनिःक्षेपः, यथा-

१ प्र. न. v. ४२ । २ --प्रतिपलवर्ष्डदक-य-प्रती प्रवसं लिखितं प्रज्ञते । ३ --क्षत्रा वा क्रिक -प्र-व-। ध तुकता-विशेषाः गा॰ २६ । ५ तुकता-विशेषः गा॰ २८ । प्रथाता

डबुस्तेन्द्रपर्यायोऽज्ञभविन्यमाणेन्द्रपर्यायो वा इन्द्रः, अनुस्तष्ट्रताधारत्वपर्यायेऽनुभविन्यमाणेन्द्रपर्यायो वा इन्द्रः, अनुस्तर्ष्वायारत्वपर्याये च धृतघटन्यपदेश्वचयेनन्द्रश्चन्द्रच्यपदेश्वोपपत्तः । क्रचिदमान्धान्येऽपि द्रन्यानार्थः, अवार्यशुणरहितत्वात् अप्रधानाचार्य इत्यर्थः । क्रचिदनुषयोगेऽपि, यथाऽनाभोगेनेहपरलोकाद्यार्थसालक्षणेनाविधिना च भक्त्यापि क्रियमाणा जिनप्जादिकिया द्रन्यक्रियेन, अनुपयुक्तिक्रयायाः साक्षान्मोक्षाङ्गत्वामावात् । भक्त्याऽविधिनापि क्रियमाणा सा पारम्पर्येण मोक्षाङ्गत्वापेक्षया द्रन्यतामञ्जते, भक्तिगुणेनाविधिदोषस्य निरज्ञन्यीकृतत्वादित्याचार्याः ।

६५. विवक्षितक्रियानुभृतिविशिष्टं स्वतस्वं यन्निश्चिप्यते स भावनिःश्चेपः, यथा इन्टर्नाक्रियापरिणतो भावेन्द्र इति ।

§६. नर्नु भाववर्जितानां नामादीनां कः प्रतिविशेषश्चिष्वपि वृत्त्यविशेषात ?. 10 तथाहि-नाम तावसामवति पदार्थे स्थापनायां दृज्ये चाविशेषेण वर्तते । भावार्थश्चन्यत्वं स्थावनारूपमपि त्रिष्वपि समानम्, त्रिष्वपि भावस्याभावात् । द्रव्यमपि नामस्थापनाः दुव्येषु वर्तत एव. द्रव्यस्यैव नामस्थापनाकरणात , द्रव्यस्य द्रव्ये सुतरां वृत्तेश्रेति विरुद्ध-धर्माध्यासाभावासेषां भेदो यक्त इति चेतः नः अनेन रूपेण विरुद्धधर्माध्यासामावेऽपि 15 रूपान्तरेण विरुद्धधर्माध्यासा तद्भेदोपपत्तेः । तथाहि-नामद्रव्यास्यां स्थापना तावदा-काराभित्रायबुद्धिकियाफलदर्शनाद्भिद्यते. यथा हि स्थापनेन्द्रे लोचनसहस्राद्याकारः. स्थापनाकर्तश्र सद्धतेन्द्रामिप्रायो, द्रष्ट्रश्च तदाकारदर्श्वनादिन्द्रबुद्धिः, भक्तिपरिणत्व द्वीनां नमस्करणादिकिया, तत्फलं च पुत्रोत्पन्यादिकं संबीध्यते, न तथा नामेन्द्रे दच्येन्द्रे चेति ताभ्यां तस्य भेदः । दच्यमपि भावपरिणामिकारणत्वासामस्थापनाभ्यां 20 भिद्यते, यथा बातुपयुक्तो वक्ता द्रव्यम्, उपयुक्तत्वकाले उपयोगलक्षणस्य भावस्य कारणं भवति, यथा वा साधजीवी दव्येन्द्रः सद्धावेन्द्ररूपायाः परिणतेः, न तथा नाम-स्थापनेन्द्राविति । नामापि स्थापनाद्रव्याभ्यामुक्तवैधर्म्यादेव भिद्यत इति । दुग्ध-तकादीनां श्वेतत्वादिनाऽमेदेऽपि माधुर्यादिना मेदवसामादीनां केनचिद्रपेणामेदेऽपि रूपान्तरेण मेद इति स्थितम् ।

१७. नर्तुं भाव एव वस्तु, िकं तदर्भश्चर-वैर्नामादिमिरिति चेत्; नः नामादीना-मिष वस्तुवर्णयत्वेन सामान्यतो भावत्वानिकमात्, अविशिष्टे इन्द्रवस्तुन्युचरिते नामादिभेदचतुष्टयवरामेर्श्वनात् प्रकरणादिनैव विशेषवर्पवसानात् । भावाक्कस्वेनैव वा नामादीनाम्वययोगः जिननामजिनस्थापनापरिनिर्शतम्नित्रदेवनाद्भावोष्ठासानुभवात् । केवलं नामादित्रयं भावोष्ठासेनैकान्तिकमनात्यन्तिकं च कारणमिति ऐकान्तिकात्य-

१ तुलना-विशेषा० गा० ५२। २ तुलना-विशेषा० गा० ५३। ३ तुलना-विशेषा० गा० ५४।
४ तुलना-विशेषा० गा० ५५। ५ -०परामधैदर्शनाए-सं०। ६ तुलना-विशेषा० गा० ५६-५८।

20

न्तिहरूय भावस्याभ्यहितत्वमनुमन्यन्ते प्रवचनवृद्धौः । एतच भिष्मवस्तुगतनामाध-पेश्वयोक्तम् । अभिवानस्तुगतानां तु नामादीनां मावाविनाभृतत्वादेव वस्तुत्वम् , सर्वस्य वस्तनः स्वामिधानस्य नामरूपत्वातः स्वाकारस्य स्थापनारूपत्वातः कारणतायाश्र द्रव्यह्मपत्वात, कार्यापन्नस्य च स्वस्य मावह्मपत्वात । यदि च घटनाम घटधमी न भवेत्तदा ततस्तत्संप्रत्ययो न स्यात , तस्य स्वाप्रथम्भतसंबन्धनिमित्तकत्वादिति सबै नामा- 5 त्मक्रमेष्टव्यम् । साकारं च सर्वं मति-शब्द घटादीनामाकार्रवस्वातः, नीलाकारसंस्थान-विशेषादीनामाकाराणामनुभवसिद्धत्वात् । द्रव्यात्मकं च सर्वं उत्फणविफणकुण्डलिताकाः रसमन्वितसर्ववत विकाररहितस्याविभीवतिरोभावमात्रपरिणामस्य दृश्यस्यैव सर्वत्र सर्व-दानुभवात । भावात्मकं च सर्वे परापरकार्यक्षणसन्तानात्मकस्यैव तस्यानुभवादिति चत्रष्ट्यात्मकं जगदिति नामादिनयसम्बद्यवादैः ।

## [ २. निःक्षेपाणां नयेष योजना । ]

६८. अथ नामादिनिक्षेपा नयैः सह योज्यन्ते । तत्र नामादित्रयं दृष्यास्तिकः नयस्यैवाभिमतम् , पर्यायास्तिकनयस्य च भाव एव । आद्यस्य मेदौ संब्रहन्यवहारौ. नैगमस्य यथाक्रमं सामान्यब्राहिणो विशेषब्राहिणश्र अनयोरेवान्तर्भावात । ऋजुसूत्रा-दयश्च चत्वारो द्वितीयस्य भेदा इत्याचार्यसिद्धसेनमतानुसारेणाभिहितं जिनभद्रग 15 णिक्षमाश्रमणपुज्यपादैः--

"नामाइतियं दव्वद्वियस्य भावो च परजवणयस्स । संगहववहारा पढमगस्स सेसा उ इयरस्स ॥" [७५] इत्यादिना विशेषावश्यके । स्वमते त नमस्कारनिक्षेपविचारस्थले-

"भावं चिय सददणया सेसा इच्छन्ति सव्वणिक्खेवे" [२८४०]

इति बचसा त्रयोऽपि अन्दनयाः शुद्धत्वाद्भावमेवेच्छन्ति ऋजुस्त्रादयस्त चत्वा-रश्रतरोऽपि निक्षेपानिच्छन्ति अविशुद्धत्वादित्युक्तम् । ऋजुसत्रो निक्षेपावेवेच्छतीत्यन्येः तत्र( तम् )ः ऋजुस्त्रेण द्रव्याभ्युपर्गमस्य स्त्राभिहि-तत्वातः, पृथक्त्वाभ्युपगमस्य परं निवेधातः । तथा च सूत्रम्--"उज्ज्ञसःअस्स एगे अणुवउसे आगमओ एगं दब्बावस्सयं, पुहत्तं नेच्छह सि" [ अनुयो॰ 25 स्० १४ ] । केंग्रं चायं पिण्डावस्थायां सुवर्णादिद्रव्यमनाकारं भविष्यत्कण्डलादि-पर्यायलक्षणमाबहेतुत्वेनाम्युगच्छन् विश्विष्टेन्द्राधभिलापहेतुभूतां साकारामिन्द्रादिस्था पनां नेच्छेत ?, न हि दृष्टेऽनुपपनं नामेति । किञ्च, इन्द्रादिसञ्ज्ञामात्रं तदर्थरहित-मिन्द्रादिश्रब्दबाच्यं वा नामेच्छन् अयं भावकारणत्वाविशेषात कतो नामस्थापने

१ -- सन्यन्ते च प्रव -- प्र । ६ विशेषा । गा० ५९ । ३ तुलना-विशेषा । ६० । ४-० माहारत्वाक्षी --प्रः। ५ तस्त्रना-विशेषाः गा० ६६-६८। ६ तस्त्रना-विशेषाः गा० ६९-७१। ७ तस्त्रना-विशेषाः गा० ७२. ७३। ८ तुलना-विशेषा । गा० २८४८। ९ इन्याभ्युपगतस्य-सं०। १० तुलना-विशेषा । गा० २८४९।

नेच्छेत् ? । प्रत्युत सुतरां तदस्युपममो न्याय्यः । इन्द्रमृतिंद्रक्षणद्रव्यःविश्विष्ठतदा-काररूपस्यापनयोरिन्द्रपर्यायरूपे मावे तादारम्यसंबन्धेनावस्थितत्वाचत्र वाच्यवाचकः मावसंबन्धेन संबद्धान्नाञ्चेऽपेक्ष्या सिन्निहितत्रकारणत्वात् । सङ्ग्रहेन्यवहारो स्थापना-वर्जान्नीनिन्नेश्वपानिच्छत इति केचित्, तन्नानवयं यतः संग्रहिकोऽसंग्रहिकोऽनिर्वेतदे परि-पूर्णो वा नैनमस्तावत् स्थापनामिच्छतीत्यवस्यमम्युपेयम् , सङ्ग्रहन्यवहारयोरस्यत्र द्रष्ट्यापिके स्थापनाम्युपगमावर्जनात् । तत्राचपक्षे संग्रहे स्थापनाम्युपगमप्रसस्त्याः, संग्रहन्यमतस्य संग्रहिकनैनाममताविश्वेषात् । द्वतीये व्यवहारे तदस्युपगमप्रसस्त्याः, सन्मतस्य व्यवहारमतादविश्वेषात् । तृतीये च निर्वेषयोः संग्रहव्यवहारयोः स्वापनाम्युपगमोपपचाविष सद्वद्वितयोः संपूर्णनेगमरूपत्वाचस्ययोनिगमान्तर्याः आवभगमस्यविगमत्त्रवेकं तदेवैकमागब्रहणात् । किञ्च, सङ्ग्रह्व्यवहारयोनिगमान्तर्याः वारस्यापनाम्युपगमप्रत्येकं तदेवैकमागब्रहणात् । किञ्च, सङ्ग्रह्व्यवहारयोनिगमान्तर्याः वारस्यापनाम्युपगमपानयेणे सङ्ग्रह्व्यवहारयोनिगम् प्रवेशस्य स्रपादत्वात्, स्थापनासामान्यत-द्विश्वपायुपगममान्नयोव सङ्ग्रह्व्यवहारयोनिद्यापचितित यथागमं भावनीयम् । एतैथ नामादिनिन्नयेपवीतावादयः पदार्था निन्नेप्ताः ।

#### [ ३. जीवविषये निःक्षेपाः । ]

§ ९. तत्र यद्यपि यस्य जीवस्याजीवस्य वा जीव इति नाम क्रियते स नामजीवः, देवतादिप्रतिमा च स्थापनाजीवः, औपश्चिमकादिभावशाली च भावजीव इति
जीविवययं निक्षेपत्रयं सम्भवति, न तु द्रव्यनिक्षेपः। अयं हि तदा सम्भवेत्, यद्यजीवः
सम्भायत्यां जीवोऽभविष्यत्, यथाऽदेवः सम्भायत्यां देवो भविष्यत्(न्) द्रव्यदेव

20 इति। न चैतदिष्टं सिद्धान्ते, यतो जीवत्वमनादिनिषनः पारिणामिको भाव इष्यत
इति। तथापि गुणपर्यायविश्वकत्वेन सुद्धचा कत्वियतोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो
द्रव्यजीवः, शून्योऽयं भङ्ग इति यावत्, सतां गुणपर्यायाणां सुद्धचापनयस्य कर्तुमश्वस्यत्वात्। न स्तु झानायवार्यपरिणातिः, किन्तु अर्थो यथा यथा विपरिणमते
तथा वथा द्यां आदुरस्तीति। न चैवं नामादिचतुष्टयस्य व्यापिताश्चः, यतः

प्रायः सर्वयदार्येग्वन्येषु तत् सम्भवति । यद्यत्रैकिस्मि सम्भवति नैतावता भवत्यव्यापितेति द्वद्यः। जीवशुर्व्याव्यव्यज्ञित्रयात्रीत्यः उत्तर्यने स्वान्यमाद्वः। अतरे तु वदनित-अद्यमेव मनुष्यजीवो द्विव्यजीवो]ऽभिषांतष्यः उत्तरं देवजीवमाश्चर्यम् अदं हि तस्योत्पर्स्योतं द्विजीवसाविन भविपर्वः प्रतिनित्यसोर्देवजीवस्य कार्णभवामि, यत्याद्वमेव तेन देवजीवमाविन भविपर्वः प्रति हि स्योत्पर्स्यादे द्विजीवसाविन भवि-

१ तुलना-विशेषा॰ वृ॰ गा॰ २८४७ । १-०५०कृषिको-प्र॰ व॰।३ छङ्गाहिके नैप॰-छं॰। ४ तुलना-विशेषा॰ गा॰ २८५५ । ५ व॰ प्रती प्रथमितिसर्त 'मनुष्यजीवो इब्ब्योबोऽभि॰' इति पाउँ परिसाज्ये 'मनुष्यजीबोऽभि॰-' इलादि कृतं इक्षत ।

परस्य परस्योत्पित्सोः कारणमिति । अस्मिश्र पक्षे सिद्ध एव भावजीवो भवति, नान्य इति-एतदपि नानवधमिति तस्तार्बटीकाकृतैः ।

§ १०. इदं पुनरिहावधेर्य-इत्यं संसारिजीवे द्रव्यत्वेऽपि भावत्वाविरोधः, एक-वस्तुगतानां नामादीनां भावाविनाभृतत्वप्रतिपादनात् । तदाह भाष्यकारः−

> "अहवा वस्थूभिहाणं, नामं ठवणा य जो तयागारो । कारणया से दब्बं, कजावम्रं तथं भावो ॥१॥" [६०]

5

हति । केवलमविशिष्टजीवापेक्षया द्रव्यजीवत्वव्यवहार एव न स्यात्, मनुष्यादेर्दे-वत्वादिविशिष्टजीवं प्रत्येव हेतत्वादिति अधिकं नैयरहस्यादौ विश्वेषितमस्माभिः ॥

।। इति महामहोपाध्यायश्रीकस्याणविजयगणिशिष्यमुख्यपण्डितश्रीक्षाभविजयगणिशिष्यावतंस-पण्डतश्रीजीतविजयगणिसतीध्येपण्डितश्रीनयविजयगणिशिष्येण पण्डितश्रीपद्म-विजयगणिसोदरेण पण्डितयशोविजयगणिना विरचितायां जैनतर्कभाषायां निश्चेपपरिच्छेदः संपूर्णः, तत्संपूर्तीं च संपूर्णेयं जैनतर्कभाषा ।।

।। स्वस्तिश्रीश्रमणसङ्घाय ।।



10

म्रिभीविजयादिदेवसुगुरोः पदाम्बराहर्मग्रौ,
स्रिभीविजयादिर्सिहसुगुरौ शकासनं भेजुषि।
तस्सेवाऽप्रतिनप्रसादजनितश्रद्धानसुद्धाः कृतः,
प्रन्योऽपं वितनोतु कोविदकुले मोदं विनोदं तथा ॥ १ ॥

यस्यासन् गुरबोऽत्र जीतविजयपाज्ञाः प्रकृष्टाशयाः,
भ्राजन्ते सनया नयादिविजयपाज्ञाश्च विद्याप्रदाः ।
प्रेम्णां यस्य च सद्म पद्मविजयो जातः सुधीः सोदरः
तेन न्यायविशारदेन रचिता स्तासकैमाषा सुदे ॥ २ ॥

तर्कभाषाभिमां कृत्वा मया यत्वुण्यमर्जितम् । प्राप्तुयां तेन विपुलां परमानन्दसम्पदम् ॥ ३ ॥

र्षेत्रं न्यायविद्यारदस्विषदं काद्यां प्रदत्तं बुधैः न्यायाचार्यपदं ततः कृतदातप्रन्थस्य यस्यार्षेतम् । शिष्यप्रार्थनया नयादिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिद्युः तस्वं किञ्चिदिदं यद्योविजय इत्याख्यास्त्रदाख्यातवान् ॥ ४ ॥

------

९ दश्यमानादर्वेषु दश्यते वृत्ताभदं पृथगवृक्षान्वतम्, तेनानुमीयतेऽदो यदन्यप्रकरणादेतारक्तृंकानुपनीतं भवेरकेनापि, यदा प्रकरणप्रन्यतेनास्य शिष्यविक्षानिमित्तकस्यक्रियाक्षापनाय पूर्वपादैरेवेदं पृथस्यस्तं पक्षाञ्चलेत्-मु-टि॰। व॰ प्रतो चतुर्वपयं नास्येव।

## जैनतर्कभाषायाः

# ॥ तात्पर्यसङ्ग्रहा वृत्तिः॥

---

# न्यायविशारदं नत्वा यशोविजयवामिनम् । तन्यते तर्कभाषाया वृत्तिस्तात्पर्यसङ्ग्रहा॥

- पु० १. पं० ६. यद्यपि सन्मतिटीकाकृता अभयदेवेन द्वितीयकाण्डमथमगाथाव्यास्यायां दर्शनस्यापि प्रामाण्यं स्पष्टमुक्तम्, यद्यपि च स्वयं प्रन्यकारेणापि [१० ५. पं० १०.] सामान्य-मात्रमाहिणो नैश्चयिकावमहत्तं वदता दर्शनस्य मतिज्ञानोपयोगान्तगैतत्वनैव प्रामाण्यं सूचितं 5 माति तथापि माणिक्यनन्दि-यादिदेवसूरिमभृतिभिवैनतार्षिकैः यत् दर्शनस्य प्रमाणकोटेकेहिभीव-समर्थनं कृतं तदिभिभेत्यं मन्यकृता अत्र दर्शनस्य प्रमाणाङस्यत्वं मन्वानेन 'दर्शनेऽतिक्याप्ति-वारणाय' इत्याखुक्तम् ।
- पृ० १. पं० ७. 'मीमांसकादीनाम्' कुमारिल्पश्र्तयो हि ज्ञानमात्रस्य परोक्षात्वेन पर-प्रकादयन्त्रं मन्त्रानाः अर्थप्राकट्याख्येन तरक्तेत्रैन हेतुना तदनुमितिमङ्गीकुर्वाणाः तस्य स्वप्रका- 10 शत्वं निरस्यन्तीति ते परोक्षबुद्धिवादिनोऽमिशीयन्ते ।
- पृ० १. पं० ८. जैनमते हि सर्वस्थापि ज्ञानस्य स्वपरम्भाशस्वनियमान् 'स्वपर'इति विशे-पणाऽभावेऽपि स्वपरव्यवसायित्वरूपस्य अर्थस्य सिद्धान्तवरुगैन लाभात् 'स्वपर'इति विशेषणं कस्मात् ', इत्याशङ्कां निवारियदुमुक्तम्—'स्वरूपविशेषणार्थम्' इत्यादि । तथा च नेदं विशेषणं किश्चिद्यावर्तकत्या लक्षणे निवेशितं येन व्याष्ट्रस्यभावप्रयुक्ता तद्वैयर्थ्याशङ्का स्यात् । किन्तु स्वरूप- 15 मात्रनिदर्शनताल्येणैव तत् तत्र निवेशितम् । न च स्वरूपविशेषणे व्याष्ट्रचिलाभप्रत्याशा । विशे-प्यस्वरूपविश्यक्वोधजननरूपं तत्कलं तु लत्रापि निवीधमिति नैतस्य विशेषणस्य वैयर्ध्याशङ्का ।
- पृ० १. पं० ९. 'नतु यद्येवम्'-प्रस्तुतस्य श्रह्णसमापानमन्थस्य मूळं स्याद्वादरत्नाकरे
  [ पृ० ५२. ] इत्थं दृश्यते-

"ज्ञानस्याऽय प्रमाणत्वे फलत्वं कस्य कथ्यते ?। स्वार्थसंवित्तिरस्त्येव नतु किस्न विलोक्यते ?॥ स्यात्फलं स्वार्थसंवित्तिर्यदि नाम तदा कथम्। स्वपरच्यवसायित्वं प्रमाणे घटनामियात् ?॥ उच्यते-

## स्यादमेदात् प्रमाणस्य स्वार्थव्यवसितेः फलात् । नैव ते सर्वथा कश्चिद् दृषणञ्चण ईक्ष्यते ॥"

पृ० १. पं ० ११. 'स्वस्यवसाचित्वात'-ननु देवसूरिकृतं 'स्वपर'इत्यादिसूत्रं तदीयां 5 च रत्नाकरव्याख्यामवल्डम्ब्य प्रमाणस्य फलं दर्शयता श्रीमता उपाध्यायेन 'स्वार्थव्यवसितेरेव फलत्वात' इत्यक्तमः अस्य च उक्तसत्र-तदीयन्याख्यानसारी स्वपरव्यवसितिरेवार्थः फलत्वेन पर्यवस्यति । तथा च अत्रत्यः स्वमात्रव्यवसितैः फलखप्रदर्शनपरः आशङ्काग्रन्थः कथं सङ्गच्छेत ?. यतो हि 'स्वपरव्यवसायि' इत्यादिसञ्ज्याख्यायां अग्रेतने च 'स्वपरव्यसितिकियाह्नपाऽज्ञान-निवृत्त्याख्यं फलं तु' इत्यादिसुन्ने [प्र. न. ६. १६] स्वयं देवसुरिणा स्वपरव्यवसितेरेव फलस्वस्य 10 प्रतिपादनात । किञ्च, प्रमाणफलस्वरूपविषयको जैनतर्कसिद्धान्तोऽपि इदानीं यावश्चिविवादं स्वपरमकाश्योरेव फलस्वं प्रतिपादयन सर्वत्र दृष्ट्यते इति तं सिद्धान्तमपि प्रस्तुतशङ्काग्रन्थः कथं न बाधेत इति चेतुः अवधेहिः यद्यपि स्वपरव्यवसितेरेव प्रमाणफलस्वं निर्विवादं जैनतर्कसम्मतं तथापि अत्र अन्धकृता विज्ञानवादीयबौद्धपरम्परायां रुक्धप्रतिष्ठः स्वमात्रसंवेदनस्य प्रमाण-फलस्वसिद्धान्तः, इदानीं यावत जैनतर्कपरम्परायां अलब्धप्रतिष्ठोऽपि औचित्यं समीक्ष्य सन्नि-15 वैशितः । तथा च अन्धकर्तुस्तास्पर्यमत्र इत्थं भाति – यद्यपि ज्ञानं स्वं परं चीभयं प्रकाशयति तथापि तदीयं स्वमात्रप्रकाशनं फलकोरौ नियतति । स्वमात्रप्रकाशनस्य फलत्वोक्तावपि वस्ततः ज्ञानात्मकस्वप्रकाशनस्य 'विषयनिरूप्यं हि ज्ञानम् , ज्ञानवित्तिवेद्यो विषयः' [मुक्ता० का० १९६.] इति सिद्धान्तानुसारेण स्वविषयविषयकस्वान्यथानुपपत्त्या परप्रकाशनगर्भितत्वमपि पर्यवस्यति इति परव्यवसितैः अर्थादेव रूभ्यत्वेन गौरवादेव स्वपरोभयव्यवसितेः साक्षात फरुत्वेनाभिधानं 20 अन्धकृता नाहतम् । प्रमाणफलयोरभेदपक्षं समाभित्यं च प्रमाणस्य स्वपरव्यवसायित्वोक्तिः फलस्य च स्वपरव्यवसितित्वोक्तिः सङ्गमिता । बन्धकर्तुरयमभिष्रायः अमेतनेन 'ज्ञानाभावनिष्रतिस्त्वर्थ-ज्ञातताब्यवहारनिबन्धनस्वव्यवसितिपर्यवसितैव सामान्यतः फल्लमिति द्रष्टव्यम्' प्र० ११, पं० २६ ो इति ब्रन्थेनापि स्फटीभवति ।

पृ० १. पं० १६. 'ततोऽर्थ' -श्रीमता विद्यानन्देन स्वकीयस्य राक्तिकरणत्वपक्षस्य 25 तात्प्यं प्रस्तुतपद्वयास्यायामित्यं प्रकटीकृतम् "निह अन्तरक्रबहिरक्षार्धमहणरूपासनो ज्ञानशक्तिः करणत्वेन कपश्चित्रित्वं प्रकटीकृतम् "निह अन्तरक्रवह्मार्थमहणरूपासनो ज्ञानशक्तिः करणत्वेन कपश्चित्र तिहस्याना विरुच्यते, सर्वथा राक्तिव्हत्तोभेदस्य प्रविहतनात् । नतु च ज्ञानशक्तिविदे प्रत्यक्षा तदा सक्कणदार्थश्चनः प्रत्यक्षत्वप्रतक्षात् अनुमेयत्वविदेशः । यदि पुनरप्रत्यक्षा ज्ञानशक्तित्वत् तस्याः करणज्ञानत्व प्रामाकरमतिविद्धः, तत्र करणज्ञानस्य परोक्षत्व-व्यवस्थितेः फलज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वोगमात् । ततः प्रत्यक्षकरणज्ञानिष्वव्यतं न तच्छक्तिरूप-अभिवत्यं स्याह्मदिभिः इति चेत् ; तदनुष्पक्षस् ; एकानतोऽस्मदादि प्रत्यक्षस्यस्य करणज्ञाने अन्यत्र वा वस्तुनि प्रतीतिविद्यद्वनेगऽनस्युष्पमात् । द्वव्यार्थतो हि ज्ञानं अस्मदादेः प्रत्यक्षम्, प्रतिक्षणपरिणामशक्त्यादिपर्यायार्थतस्य न प्रत्यक्षम् । तत्र स्वर्धव्यसायात्मकं ज्ञानं स्वसं-

बिदितं फलं प्रमाणाभिकं बदतां करणज्ञानं प्रमाणं कथमप्रत्यक्षं नाम है। न च येनैव ऋषेण तत्प्र-मणं नेतेव फलं येन बिरोध: । किं तर्हि ? । साधकतमत्वेन प्रमाणं साध्यत्वेन फलम् । साधक-तमस्वं त परिच्छेदनशक्तिरिति पत्यक्षफलज्ञानात्मकत्वात प्रत्यक्षं शक्तिरूपेण परीक्षम् । ततः स्यात प्रत्यक्षं स्यादप्रत्यक्षम् इत्यनेकान्तसिद्धिः । यदा त प्रमाणाद्भिनं फलं हानोपादानोपेक्षाज्ञान-लक्षणं तदा स्वार्थव्यवसायात्मकं करणसाधनं ज्ञानं प्रत्यक्षं सिद्धमेवेति न प्रसत्यवेशः तच्छ- 5 क्तेरपि सक्ष्मायाः परोक्षत्वात । तदेतेन सर्वे कत्रीदिकारकत्वेन परिणतं वस्त कस्यचित प्रत्यक्षं परोक्षं च कर्त्रादिशक्तिरूपतयोक्तं प्रत्येयम् । ततो ज्ञानशक्तिरपि च करणत्वेन निर्दिष्टा न स्वागमेन युक्त्या च विरुद्धा इति सुक्तम् ।" —तत्त्वार्यश्लोकवा॰ पृ॰ ६०.

विद्यानन्दीयं मतं पराकर्तकामेन श्रीमता देवसुरिणा तदीयपक्षोपन्यासपुरःसरमित्यं निराकरणं कृतम्-"केचित्र-'ततोऽर्थम्रहणाकाराः...' इति परमार्थतो मावेन्द्रियस्यैव अर्थम्रहणशक्तिलक्षणस्य 10 साधकतमतया करणताध्यवसायादिति च ब्रवाणा लब्धीन्द्रियं प्रमाणं समगिरन्तः, तत्र समगस्तः उपयोगात्मना करणेन लब्धेः फले ज्यवधानात , सन्निकर्षादिवद्यचारत एव प्रमाणतोपपत्तेः ।

अथं न जैनानामेकान्तेन किञ्चित प्रत्यक्षममस्यक्षं वा, तदिह द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षा ज्ञानशक्तिः पर्या-यार्थतस्त परोक्षा । अयमर्थः-स्वपरपरिच्छितिरूपात फलात कथश्चिदप्रथम्पते आत्मनि परिच्छिने तथामता तज्जननशक्तिरपि परिच्छिन्नैवेति । नन्वेवं आत्मवर्त्तिनामतीतानागतवर्तमानपर्याया- 15 णामशेषाणामपि द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षत्वात् यथा ज्ञानं स्वसंविदितं एवं तेऽपि स्वसंविदिताः किन्न स्यः ?। किञ्च, यदि द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षत्वात स्वसंविदिता ज्ञानशक्तिः तदाऽहं घटज्ञानेन घटं जानामि इति करणोल्लेखो न स्यात् । निष्ट कलशसमाकलनवेलायां द्रव्यार्थतः प्रत्यक्षत्वेऽपि प्रति-क्षणपरिणामिनामतीतानागतानां च कुशालकपालादीनामुक्तेलोऽस्ति । " -स्या. र. पृ० ५३.

पु०२, पं०१०, 'यतो व्यत्पत्ति'-"अक्षाश्रितत्वं च व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य, न तु 20 प्रवृत्तिनिमित्तम् । अनेन तु अक्षाश्रितत्वेनैकार्थसमवेतमर्थसाक्षात्कारित्वं लक्ष्यते । तदेव शब्दम्य प्रवृत्तिनिमित्तम् । ततश्च यत्किञ्चदर्थस्य साक्षात्कारि ज्ञानं तत् प्रत्यक्षमुच्यते । यदि त्वक्षाश्चितत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्यादिन्द्रियज्ञानमेव प्रत्यक्ष<u>स</u>च्येत न मानसादि । यथा गच्छतीति गौरिति गमन-क्रियायां व्युत्पादितोऽपि गोशब्दो गमनक्रियोपलक्षितमेकार्थसमवेतं गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति तथा च गच्छत्यगच्छति च गवि गोशब्दः सिद्धो भवति ।" -न्यायमि॰ टी॰ १. ३. । स्या. र. 25 प्र०२६०.

पूर २. पंर ११. 'स्पष्टता'-

## "अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम् । तद्वैश्रद्धं मतं बुद्धेरवैश्रद्धमतः परम् ॥" -ल्यीय॰ १. ४.

पृ० २. पं० १५. 'तृद्धीन्द्रिया'-"इदमुक्तं भवति-अभौद्गलिकत्वादमूर्जो जीवः पौद्गलि- 30 कत्वात् तु मूर्चानि द्रव्येन्द्रियमनांसि, अमूर्चाच मूर्च प्रथम्पृतम् , ततस्तेभ्यः पौद्गलिकेन्द्रिय-मनो-भ्यो यन्मतिश्रुतलक्षणं ज्ञानमुपजायते तद घूमादेरम्न्यादि ज्ञानवत् परनिमित्तवात् परोक्षम् ।" -विशेषा० वृ० गा० ९०.

पृ० २. पं०२१. 'यद्यपि इन्द्रियज'-"इन्द्रियाणि बक्षुरादीनि तानि मानसबळाधानसहि-तानि प्राधान्येन निवन्धनमस्य इति इन्द्रियनिवन्धनम् ।" -सा० र. ए० ३४४.

पृ० २. पं० २३. 'श्रुतानुसारित्वं'—"श्रूयते इति श्रुतं द्रज्यश्रुतुक्तपं शब्द इत्यर्थः, स च 10 सक्केतविषयपरोपदेशक्तपः श्रुतप्रन्थात्मकश्रेष्ट गृष्ठते तदनुसारेणैव यदुत्यवते तत् श्रुतज्ञानम् नान्यत् । इदग्रुक्तं भवति सक्केतकालभृष्ट् श्रुतप्रन्थसम्बन्धिनं वा घटादिशब्दमनुष्ट्यः वाच्य-वाचकभावेन संयोज्य 'घटो घटः' इत्यन्तऽर्जव्याधाकारमन्तःशब्दोल्लेलान्यितमिनिद्रयादिनिमितं यज्ञानसुदेति तत् श्रुतज्ञानमिति । शेषम् इन्द्रियमनोनिमित्तम् अश्रुतानुसारेण यदवप्रहादिज्ञानं तत् मतिज्ञानम् इत्यर्थः।" - व्यत्रेषा० वृ० गा० १००

15 पृ० २. पं० २५. 'नन्वेवम्'-"अत्राह कश्चित्-नन् यदि शब्दोलेखसहितं श्रुतज्ञानमिष्यते शेषं तु मतिज्ञानं तदा वक्ष्यमाणस्वरूपः अवग्रह एव मतिज्ञानं स्यात न पुनः ईहापायादयः तेषां शब्दोहिलसहित्वात, मतिज्ञानभेदत्वेन वैते प्रसिद्धाः, तत्कथं श्रतज्ञानलक्षणस्य नातिव्याप्तिदोषः ?। अपरख, अङ्गानङ्गप्रविद्यादिषु 'अक्खरसन्नी सम्मं साईयं खलु सपज्जवसियं च' [आव. र्न. १९] इत्यादिषु च श्रुतमेदेषु मतिज्ञानभेदस्वरूपाणामवमहेहादीनां सद्भावात सर्वस्यापि तस्य मति-20 ज्ञानत्वमसङ्गात् मतिज्ञानभेदानां चेहापायादीनां साभिरुापत्वेन श्रुतज्ञानत्वप्राप्तः उभयलक्षणसङ्की-र्णतादोषश्च स्यात् । तदयुक्तम् : यतो यद्यपीहादयः सामिलापाः तथापि न तेषां श्रतस्तपताः श्रुतानुसारिण एव सामिलापज्ञानस्य श्रुतत्वात । अथ भवग्रहादयः श्रुतनिश्रिता एव सिद्धान्ते भोक्ताः युक्तितोऽपि चेहादिषु शब्दाभिलापः स**हे**तकालाद्याकर्णितशब्दानुसरणमन्तरेण न सक्र-च्छते, अतः कथं न तेषां श्रुतानुसारित्वस् ? । तदयुक्तम् ; पूर्वं श्रुतपरिकर्मितमतेरेवैते समुपजायन्त 25 इति श्रुतनिश्रिता उच्यन्ते, न पुनर्ज्यवहारकाले श्रुतानुसारित्वमेतेष्वस्ति । सङ्केतकालाद्याकर्णित-शब्दपरिकर्मित्बुद्धीनां व्यवहारकाले तदनसरणमन्तरेणापि विकल्पपरम्परापुर्वकविविधवचन-पृष्टितदर्शनात् । न हि पूर्वपृष्ट्रसम्बेताः अधीत् श्रुतमन्याश्च व्यवहारकाले प्रतिविकल्पन्ते - 'एत-च्छब्दवाच्यत्वेनैतत् पूर्व मयाऽवगतम्' इत्येवंद्रपं सङ्केतम् , तथा, 'अमुकस्मिन् प्रन्थे एत-दित्थमिहितम्'इत्येवं श्रुतप्रन्यं चानुसरन्तो दृश्यन्ते, अभ्यास पाटववशात् तद्नुसरणमन्तरेणाप्य-30 नवरतं विकरूपभाषणप्रवृत्तेः । यत्र तु श्रुतानुसारित्वं तत्र श्रुतरूपताऽस्माभिरपि न निषिध्यते । तस्मात् श्रुतानुसारित्वाभावेन श्रुतत्वाभावादीहापायधारणानां सामस्त्येन मतिज्ञानत्वात् न मति-ज्ञानस्मणस्यान्याप्तिदोषः, श्रुतरूपतायाश्च श्रुतानुसारिप्वेव साभिलापज्ञानविरोषेषु भावान्न श्रुत-ज्ञानलक्षणस्यातिन्याप्तिकृतो दोषः । अपरं च, अङ्गानङ्गपविष्टादिश्रतमेदेषु मतिपूर्वमेव श्रतमिति

वश्यमाणवचनात् , प्रथमं शब्दाधवग्रहणकाले अवग्रहादयः ससुप्रधायन्ते । एते च अधुतानुसारित्वात् मतिश्चातम् । यस्तु तेप्वज्ञानक्षमविष्टश्चुतमेदेषु श्वतानुसारी श्वानविशेषः स श्वत्शानम् ।
तत्रश्च अङ्गानक्षप्रविष्टादिश्चतमेदानां सामस्येन मतिशान्तवायावात्, ईहादिषु च मतिमेदेषु श्वतानुसारित्वामावेन श्वत्शानत्वासम्भवात् नेपायव्यक्षणसङ्गीणतादोषोप्युपपषत इति सर्व सुस्थम् ।
तस्मादवग्रहापेश्वया अनरील्याप्यात् नेषायवेश्वया तु सामित्याप्यात् सामित्यापानिल्यापं मतिशातम् , अश्वतानुसारि च, सङ्गेतकालप्रवृत्तस्य श्वतम्भयसम्बन्धिया । शब्दस्य व्यवहारकाले अननुसरणात् । श्वतश्चनं तु सामित्यपमेव श्वतानुसार्येव च, सङ्गेतकालप्रवृत्तस्य श्वतमम्भयसम्बन्धिनो
वा श्वतस्य यवहारकाले अवस्यमनसरणात् इति स्थितम् ।" —विशेषाः वः गः ००००.

- पु० २. पं० २. 'व्यज्यते'-"तत्र कदम्बकुतुमगोलकाऽऽकारमांसलण्डादिरूपाया अन्तनिर्वृत्तेः शब्दादिविषयपरिच्छेदहेतुः य शक्तिविरोगः, स उपकरणेन्द्रियम्, शब्दादिश्य क्षोत्रा- 10
  दीन्द्रियाणां विषयः । आदिशब्दाद् रसगन्धर्मश्रेषरिम्रहः तद्वावेन परिणतानि च तानि भाषावर्गणादिसम्बन्धीनि द्रव्याणि च शब्दादिपरिणतद्रव्याणि । उपकरणेन्द्रियं च शब्दादिपरिणतद्रव्याणि च, तेषां परस्परं सम्बन्ध उपकरणोन्द्रियशब्दादिपरिणतद्र्यसम्बन्धः एष ताबद् ब्यक्कतसुच्यते । अपरञ्च, इन्द्रियणापि अर्थस्य व्यव्यमानस्वात् तद्वि व्यव्यनस्वस्यते । तथा, शब्दादिपरिणतद्रव्यनिकुरम्बमपि व्यव्यमानस्वान् व्यव्यनममिश्वीयते इति । एवसुपरूक्षणव्यास्यानात् 15
  नितत्यसपि यथोक्तं व्यव्यनममनत्वान्यम् । ततथ्य इन्द्रियलकुणेन व्यव्यनेन शब्दादिपरिणतद्वय्यस्वयनस्वरूपस्य व्यव्यन्तनामसम्बद्धो व्यव्यनावम्भः इति । अथयत्रापि एकस्य व्यव्यनशब्दस्य लोपं
  इत्यास्यकानां व्यव्यन्तानामस्वरहो व्यव्यनावमद्व हो । अथयत्रापि एकस्य व्यव्यनशब्दस्य लोपं
  इत्यास्यकानां व्यव्यन्तानामस्वरहो व्यव्यनावमद्व हो । अथयत्रापि एकस्य व्यव्यन्तशब्दस्य लोपं
- पृ० ३. पं० ६. 'अथ अज्ञानम्'-"स व्यञ्जनावमहो ज्ञानं-ज्ञानं न भवति, यथा हि 20 विध्रादीनाग्रपकरणेन्द्रियस्य शब्दादिविषयद्रव्यैः सह सम्बन्धकाले न किमणि ज्ञानमनुम्यते, अननुभ्यमानत्वाच तलास्ति, तथेहापीति भावः । अत्रोत्तरमाह-यस्य ज्ञानस्यान्ते तज्ज्ञेयवस्तू-पादानात् तत एव ज्ञानग्रपजायते तज्ज्ञानं दृष्टम्, यथार्थावमहप्यन्ते तज्ज्ञेयवस्तूपादानत् ईद्दा-सद्भावादर्थावमहो ज्ञानम्, जायते च व्यञ्जनावमहस्य पर्यन्ते तज्ज्ञेयवस्तूपादानात् तत एवार्याव-महज्ञानम्, तस्माद व्यञ्जनावमहो ज्ञानम् ।" -विशेषाः दृः गा० १९५.
- पृ० २. पं० ८. "तदेव व्यक्षनावमहे यद्यपि ज्ञानं नानुसूचते तथापि ज्ञानकारणत्यादसौ ज्ञानम्, इत्येव व्यक्षनावमहे ज्ञानामावमम्युपगम्योष्कम् । साम्यतं ज्ञानामावोऽपि तत्रासिद्ध एवेति दर्शयनाह"—'तत्कालेऽपि'-"तस्य व्यक्षनसम्बन्धस्य कालेपि तत्रानुपहतेन्द्रियसम्बन्धिति व्यक्षनावमहे ज्ञानमस्ति केवलं एकतेजोऽवयसम्बन्धस्य तनु—अतीवाष्ट्यमिति; अतोऽव्यक्तं स्व-संवेदनेनापि न व्यक्षते । बिधरादीनां पुनः स व्यक्षनावमहो ज्ञानं न भवतीत्यत्राविमति, 30 परितेव, अव्यक्तस्यापि च ज्ञानस्यामावात् ।" -विशेषा॰ वृ॰ गा॰ १९६.

"परः सासुयमाह-नतु कथं ज्ञानम्, अव्यक्तं च इत्युच्यते ?, तमःप्रकाशाधिभधानवर् विरुद्धत्वाद् नेदं वक्तुं युज्यते इति भावः। अत्रोक्तस्य-सुप्तमकसूर्व्छितादीनां सूक्ष्मबोधवद्व्यक्तं श्चानसुच्यते इति न दोषः । सुसादयः स्वयमपि तदात्मीयविज्ञानं नावबुध्यन्ते-न संवेदयन्ति, अतिसुक्षमत्वात ।" -विज्ञेषा० पृ० गा० १९७.

"तिर्हि तत् तेषामस्तीति एतत् कयं उद्धयते ?, इत्याह—सुप्तादयोऽपि हि स्वम्रायमानाधव-स्थायां केचित् किमपि भाषमाणा दृश्यन्ते, शिब्दताश्चोषतो वाचं प्रयच्छन्ति, सङ्कोच-विकोचा-5 ऽक्षभक्ष-नृमित-कृषित-कृष्ट्यनादिचेष्टाश्च कुर्वन्ति, न च तास्ते तदा वेदयन्ते, नापि च मबुद्धाः स्मरन्ति । तिर्हि कथं तथेष्टाम्यस्तेषां ज्ञानमस्ति इति उद्धयते ?। यस्मात्कारणात् ना-ऽमतिपूर्वोस्ता चचनादिचेष्टा विधन्ते, किन्तु मतिपूर्विका एव, अन्यथा काष्टादीनामपि तस्प्रसङ्गात्" -विशेषाः वृत् गाः १९८०

पू ३. एं० १२. 'स् च नयन'-"इत्युक्तं भवति-विषयस्य, इन्द्रियस्य च यः परस्परं
10 सम्बन्धः प्रथमग्रुपक्षेत्रमात्रम्, तद्यञ्जनावशहस्य विषयः। स च विषयेण सहीपक्षेत्रः प्राप्यकारि-च्वेव स्पर्शन-सस्त-आण-श्रोत्रञ्ज्ञणेषु चतुरिन्द्रियेषु भवति, न तु नयनमनसीः। अतस्ते वर्ज-यित्वा होषस्पर्शनादीन्द्रियचतुष्टयभेदाचतुर्विव एव, व्यञ्जनावशहो भवति।

कृतः पुनरेतान्येव प्राप्यकारीणि ?, इत्याह—उपघातश्चानुम्रहश्चोषघातानुम्रहौ तयोर्दर्शनात्— 'कर्कशकम्बर्शादिस्पर्शने त्वक्क्षणनाषुपधातदर्शनात्, चन्दनाङ्गाहंसत्लादिस्पर्शने तु द्येत्याधनुम्रह-15 दर्शनात् । नयनस्य तु निशितकरपत्र-सेख-मखादिवीक्षणेऽपि पाटनाषुपधातानवलोकनात्, चन्दना-गुरुकर्पुराधवलोकनेऽपि शैत्याधनुम्रहाननुभवात्; मनसस्तु बह्व्यादिचिन्तनेपि दाहाषुपधातादर्श-नात्, जलचन्दनादिचिन्तायामिष च पिपासोपशमाधनुम्रहासम्भवाध ।" —विशेषाः इ० गा० २०४.

- पृ० ३.पं० १४. 'रिवचन्द्र'-"अथ परो हेतोरसिद्धतामुद्रावयम्नाह जरु-मृत-नीलवसन-यनस्पतीन्द्रमण्डलाधवलोकनेन नयनस्य परमाथासल्क्षणोऽनुम्रहः समीक्ष्यते; स्र-सितभित्त्यादि-20 दक्षेते द्व जरूविगलनादिरूप उपधातः सन्हृष्यते ।'' -विशेषा॰ इ॰ २०९.
  - पृ० २. पं० १४. 'न; प्रथमाव'-''नैतदेवम्-अभिपायाऽपरिज्ञानात् , यतः प्रथमत एव विषयपरिच्छेदमात्रकालेऽनुमहोपघातशन्यता हेतुत्वेनोक्ता, पश्चानु विरमवलोक्त्यतः प्रतिपत्तुः प्राप्तेन रविकरादिना, चन्द्रमरीचि-नीलादिना वा मूर्त्तिमता निसर्गत एव कैनाप्युपघातकेन, अनुमाहकेण च विषयेणोपघातानुम्रहौ भवेतामपि इति ।" -विशेषा० इ० २११.
- 25 "नहि वयमेतर् ब्रमो यद्त चक्षुणः कुतोऽपि वस्तुनः सकाशात् कदाचित् सर्वथेव अनु-प्रहोषघातौ न भवतः । ततो रिक्कादिना दाहाधात्मकेन उपपातवस्तुना परिच्छेदानन्तरं पश्चा-चिरमवळोकपतः प्रतिपत्तः चक्षुः प्राप्य—समासाव स्पर्शनेन्द्रियमिव दश्चेत तथा यत् स्वक्रपेणेव सौम्यं शीतर्ल शीतरिष्म वा जलञ्चतचन्द्रादिकं वस्तु तिस्मिश्चरमवलोकिते उपघातामावादनुप्रह-मिव मन्येत चक्षः को दोषः १ ।" -विशेषा॰ वु॰ गा॰ २१०.
- 30 पृ० २. पं० १७. 'मृतनष्ट'—''यः सोकाणतिसयात् देहापचयरूपः, आर्चादिच्यानातिसयाद् हृद्रोगादिस्वरुक्षोपपातः, यश्च पुत्रजन्माधमीष्टमातिचन्तासमुद्भुतहृषीदिरनुमहः, स जीवस्य भव-

25

न्नपि चिन्त्यमानविष्यात् मनसः किल परो मन्यते, तस्य जीवात् कथश्चिरव्यतिरिक्तवात् । ततश्चैवं मनसोऽनुमहोपषातयुक्तत्वात् तच्छून्यत्वळक्षणो हेतुरसिद्धः ।" -विषेषा॰ १० ग॰ २९९.

"तदेतत्सर्व परस्याऽसम्बद्धभाषितिमेवेति दश्चेयशाह्-मनस्त्वपरिणतानिष्टपुद्गुरुनिचयरूपं द्वःयमनः अनिष्टचिन्ताप्रवर्षनेन जीवस्य देहदौर्वस्यायापस्या हृष्णिरुद्धनायुवद् उपघातं जनयति, तदेव च शुभपुद्गुरुणिण्डरूपं तस्यानुकुरुचिन्ताजनकृत्वेन हर्षोष्टाभिनिष्ट्रैस्या भेषजवदनुमहं विधत्त 5 इति । अतो जीवस्यतौ अनुमहोपघातौ द्रज्यमनः करोति ।" -विशेषा॰ १० गा॰ २२०.

पृ० २. पं० २०. 'नतु यदि'—"ननु जाषदवस्थायां मा मृंद् मनसो विषयप्रासिः, स्वापावस्थायां तु भवत्वसौ अनुभवसिद्धत्वात्, तथाहि 'अमुत्र मेरुशिवसराविगतिजनायतनादौ मदीयं मनोगतम्' इति सुदीः स्वभेऽजुम्यत एव इत्याशक्क्य स्वभेऽपि मनसः प्राप्यकारितामपाकर्द्धमाह— इह 'गदीयं मनोऽजुत्र गतम्' इत्यादिरूपो यः सुदैरुग्छञ्चते स्वभः, स यथोपछञ्चते न 10 तथारूप एव, तदुपछञ्चस्य मनोभेरुगमनादिकस्यावस्यासत्यत्वात् । कथम् ? । यथा कदा-विदासीयं मनः स्वभे मेर्वादौ नित्तं किश्चित् प्रस्यति, तथा कोऽपि शरीरमास्मामपि नन्दनतरुष्ठसुमावन्वपादि कुर्वन्तं तद्वतं पश्चति, न च तत् तथेव, इह स्थितैः सुसस्य तस्या-ऽजेव दशनात्, द्वयोश्चात्यनोरसम्भवात्, कुतुमपरिमञ्जयञ्चनितपरिश्रमायनुमदीपपाताभावाच । --विद्यत्याव्यः गा ०२२६.

पृ० २. पं० २२. 'ननु स्वप्नानु'-"अत्र विबुद्धस्य सतस्तद्गतानुग्रहोपधातानुपरुम्भादि-त्यस्य हेतोरसिद्गतोद्भावनार्थं परः शाह–इह कस्यचित्पुरुषस्य स्वप्नोपरुम्भानन्तरं विबुद्धस्य सतः स्फुटं दश्यन्ते हर्षविषादादयः । तत्र−

'स्वमे दृष्टो मयाद्य त्रिश्चनमहितः पार्श्वनाथः शिशुत्वे द्वात्रित्रद्विः सुरेन्द्रैरहमहिमकया स्नाप्यमानः सुमेरौ । तस्माद् मनोऽपि धन्यं नयनयुगमिदं येन साक्षात् स दृष्टो द्रष्टव्यो यो महीयान् परिहरति भयं देहिनां संस्मृतोऽपि ॥'

इत्यादिस्वमानुभृतसुखरागलिङ्गं हर्षः, तथा—

'प्राकारत्रयतुङ्गतोरणमणिप्रेङ्खत्प्रभाव्याहताः

नष्टाः कापि रवेः करा द्वततरं यस्यां प्रचण्डा अपि । तां त्रैलोक्यगुरोः सुरेश्वरवतीमास्थायिकामेदिनीं

हा ! यावत् प्रविशामि तावद्धमा निद्रा क्षयं मे गता ॥

इत्यादिकः स्वमानुमृततुःसद्वेषिकः विषादः इति विबुद्धस्यानुमहोपधातानुपरुम्भात् इत्यसिद्धो हेतुः ।'' -विशेषा० वृ॰ गा० २२६.

पृ० ३. पं० २४. 'दश्येताम्' "अत्रोत्तरमाह—स्यमे सुलानुभवादिविषयं विज्ञानं स्वम- 30 विज्ञानं तस्मादुत्यदमाना हर्षविषादादयो न विरुद्धचन्ते – न तान् वयं निवास्यामः जाग्रदवस्था-विज्ञानहषीविवत्, तथाहि—हरुवन्ते जामदवस्थायां केचित् स्व[य]सुत्र्मेक्षितसुस्रानुभवादिज्ञानाद् हृष्यन्तः, द्विषन्तो वा, ततथ दृष्टस्य निषेत्षुमश्चर्यप्तात् स्वमिवज्ञानादिष नैतिष्ठिषेषं बृमः । तर्हि किसुच्यते भवद्भिः ! किया - मोजनादिका तस्याः फलं तृष्त्यादिकं तत्पुनः स्वमिवज्ञानाद् नास्त्येव, इति बृगः । यदि श्वेतत् तृष्त्यादिकं मोजनादिकियाफलं स्वमिवज्ञानाद् भवेत् तदा विषयमासिक्या प्राप्यकारिता मनसो युज्येत, न चैतदस्ति, तथोपलम्मस्यैवाभावात् ।"

पृ० २. पं० २६. 'क्रियाफलमिप स्वप्ने'."क्रियाफलं जाधदवस्थायामिप परो दर्शयकाह -यत्र व्यक्तन्(शुक्र)विसर्गः तत्र योषित्संगमेनापि भवितन्यम्, यथा वासभवनादौ, तथा च स्वप्ने, ततो-ऽत्रापि योषित्पाप्त्या भवितव्यम् इति कथं न प्राप्यकारिता मनसः १। " -विशेषा॰ ए॰ गा॰ २२८.

"अथ बोधित्संगमे साच्ये व्यव्जनविसर्गेहितोरीकान्तिकतामुपदर्शयन्नाह—स्वमे योऽसी व्यक्त10 नविसर्गः स तत्याप्तिमन्तरेणापि 'तां कामिनीमहं परिषजामि' इत्यादिस्वयमुक्षेक्षिततीन्नाध्यवसायकृतो वेदिनव्यः । जाभ्रतोपि तीन्नमोहस्य प्रवरुवेदोदययुक्तस्य कामिनी स्मरतः दृढं ध्यायतः
मत्यक्षामिन पश्यतो बुद्ध्या परिषजतः परिमुक्तामिन मन्यमानस्य यत् तीनाध्यवसानं तस्मात्
यथा व्यव्जनविसर्गो नवति तथा स्वमेषि, अन्यथा तत्कृण एव अबुद्धः सन्निहिता वियतमामुपव्यमेत
तत्कृतानि च स्वमोष्ठञ्यानि नक्षदन्तपदादीनि पश्येत् न वैवस् ।" — विष्णा वृद्धः गाः ११९.

- 15 पृ० ३. पं० २७. 'नतु स्त्यानार्धं'—"नतु स्त्यानार्द्विनिद्रोदये वर्षमानस्य द्विरददन्तीत्पा-टनादिमहत्तस्य स्वमे मनसः प्राप्यकारिता तत्पूर्वको व्यव्जनावमहत्त्व सिद्ध्यति, तथाहि स तस्या-मवस्थायां 'द्विरददन्तीत्पाटनादिकं सर्वमिदमहं स्वमे पश्यामि' इति मन्यते इत्ययं स्वमः, मनीविकरुप पृविकां व दशनाधुलाटन क्रियामसौ करोति इति मनसः प्राप्यकारिता तत्पूर्वकश्च मनसो व्यक्रनावमहो भवत्येव इत्याशङ्क्याह—त्यानगृद्धिनिद्रोदये पुनर्वर्षमानस्य जन्तोः मास-20 भक्षण-दशनोत्पाटनादि कुर्वतो गाडनिद्रोदयप्रवर्षप्रमुद्धिनद्रोदये पुनर्वर्षमानस्य स्यात् व्यव्जनावमहः, न वयं तत्र निषेद्धारः । सिद्धं तर्हि परस्य सर्माहितम् ; सिद्धंपेत् यदि सा व्यक्षनावमहता मनसो भवेत् । न पुनः सा तस्य कस्य तर्हि सा १ । सा सक्त अप्यक्तिराणां अवणरसनप्राण-स्पर्यनानामः । इदयुक्तं भवति स्त्यानार्द्धिनानामः । इदयुक्तं भवति स्त्यानार्द्धिनानामः ॥ इत्युक्तं भवति स्त्यानार्द्धिनानामः ॥ इत्युक्तं भवति स्वानार्द्धिनानामः ॥ इत्युक्तं भवति स्वानार्द्धिनानामः ॥ इत्युक्तं भवति स्वानार्द्धिनानामः ॥ इत्युक्तं भवति । " विश्वणः व व ॥ ० ० ३३८.
- 25 पृ० २. पं० २९. 'न्तु च्यवमानो न जानाित'-''यस्मात् कारणात् 'च्यवमानो न जानाति',हत्यादिवचनात् सर्वेषि च्छ्यस्थोपयोगोऽसङ्क्येयैः समयैिनिर्दिष्टः सिद्धान्ते न तु एकद्यादिभिः। यस्माच तेषु उपयोगसम्बन्धिषु असङ्क्येयेषु समयेषु सर्वेष्वपि प्रत्येकमनन्तािन मनोद्रव्याणि
  मनोवर्गणाभ्यो गृह्णाति जीवः, द्रव्याणि च तत्सम्बन्धो वा प्रागतैव भवद्भिव्यंक्षनमुक्तम् । तेन
  कारणेन तत् तादसं द्रव्यं तत्सम्बन्धो वा व्यव्यनावमह इति युज्यते मनसः । यथाहि-श्रोत्राउ0 दीन्द्रियेण असङ्क्येयात् समयान् यावद् गृह्णमाणािन शब्दादिपरिणतद्भव्याणि, तत्सम्बन्धो वा
  व्यक्षनावमहः तथाऽत्रापि ।'' विशेषाः वृ० वा २३७-८

''तदेवं विषयासंप्राप्ताविप भङ्ग्यन्तरेण मनसो व्यञ्जनावग्रहः किळ परेण समर्थितः साम्प्रतं विषयसंप्राप्त्यापि तस्य तं समर्थयलाह—झरीराद अनिर्गतस्यापि मेर्बार्धभगतस्यापि स्वस्थान- स्थितस्यापि स्वकाये स्वकायस्य वा हृदयादिकमतीव सिकहितत्वादितसम्बद्धं विचिन्तयतो मनसो योऽसी ज्ञेयेन स्वकायस्थितहृदयादिना सम्बन्धः तत्प्रासिकक्षणः तस्मिन्नपि ज्ञेयसम्ये व्यवना-वमहः मनसः" युज्यत एव । विशेषा वृ गा २३९.

पु० ४ पं० १. 'इति चेत् ; मृणु'—"तदेवं प्रकारद्वयेन मनसः परेण व्यक्षनावमहे समिषिते आचार्यः प्रथमपक्षे तावत् प्रतिविधानमाह—चिन्ताद्वव्यक्षपं मनो न आक्षम् , किन्तु गृक्षते अवगम्यते 5 शब्दादिर्षोऽनेन इति म्रहणम् अर्थपरिच्छेदे करणम् इत्यर्थः । आक्षं तु मेरशिसरादिकं मनसः सुप्रतितमेव अतः कोऽवसरः तम्य करणभृतस्य मनोद्वव्यराहोः व्यव्जनावमहे अधिकृते ! । न कोपि इत्यर्थः । आक्षवस्तुमहणे हि व्यव्जनावमहो भवति । न च मनोद्रव्याणि माक्षक्रपतया गृक्षन्ते ।" —विशेषाः वृत् गा॰ २४०.

"या च मनसः प्राप्यकारिता शोक्ता सापि न युक्ता; स्वकायहृदयादिको हि मनसः स्वदेश 10 एव। यश्च यम्मिन् देशेऽविष्ठते तत् तेन सम्बद्धमेव भवित कस्तत्र विवादः !। कि हि नाम तद्वस्तित्त यदान्मदेशेनाऽसम्बद्धम् !। एवं हि प्राप्यकारितायामिष्यमाणायां सर्वमिष ज्ञानं प्राप्यकार्वेव, पारिशेष्याद् बाधार्थायेक्षयेव प्राप्यकारित्वाप्राप्यकारित्वाचनता युक्ता। " -विशेषा॰ ६० गा॰ २०१.

पृ० १. पं० १. 'क्षयोपद्यमपाटवेन'—"भवतु वा मनसः स्वकीयहृत्याविचित्तायां 15 प्राप्यकारिता तथापि न तस्य व्यव्जनावमहस्भवः इति द्वीयन्ताह—यस्मात् मनसः प्रथमसमय एव अर्थावमहः समुत्त्यते न तु श्रोत्रादीन्द्रयस्थेव प्रथमं व्यव्जनावमहः, तस्य हि क्षयोपदामापाट-वेन प्रथमभर्थोतुपरुष्टियकालसम्भवात् युक्तो व्यव्जनावमहः, मनसम्तु पद्वश्रयोपद्यमत्वात् चक्कुरा-दीन्द्रियस्य अर्थातुपरुष्टमाकालस्यासंभवेन मथममेव अर्थावमह एव उपजायते । अत्र प्रयोगः— इह यस्य ज्ञेयसंक्रये सत्यव्यतुपरुष्टिवश्रकालो नास्ति न तस्य व्यक्षनावमहो हृष्टः, यथा चक्कुरा-विच्यत्व नास्य संवय्यतुपरुष्टिवश्रकालो नास्ति , तस्य व्यक्षनावमहः, यत्र तु अयमभ्युप-गम्पते न तस्य ज्ञेयसंक्रये सत्यतुपरुष्टिवश्रकालो मनसः, तस्मातु न तस्य व्यक्तावमहः, यत्र तु अयमभ्युप-गम्पते न तस्य ज्ञेयसंक्रये सत्यनुपरुष्टिवश्रकालोमवः, यथा श्रोत्रस्ति व्यतिरेकः । तस्मातुक्त-प्रकाण मनसो न व्यव्जनावमहःसम्बदः। । विचेषाः इव गा० २४९.

पु० १. पं० १. 'श्रीत्रादीन्द्रिय'— "इदमुक्तं भवति—न केवलं मनसः केवलावस्थायां प्रथमम् अर्थावम्रह एव व्यापारः, किन्तु श्रीत्रादीन्द्रिय'चोगमोगकालेपि तथैव, तथाहि—श्रीत्रादीन्द्रिट 25 योपयोगकाले व्यापियते मनः केवलमर्थावमहादेव आरम्ब, न तु व्यव्जनावमहकाले। अर्थानव-बोधम्बरूपो हि व्यव्जनावमहः तदवबोधकारणमात्रत्वात् तस्य, मनस्तु अर्थाववोधरूपमेव 'मनु-तेऽर्थान् मन्यन्ते अर्था अनेन इति वा मनः' इति सान्वर्यामिधानाऽनिधेयत्वात् । किस्, यदि व्यञ्जनावमहकाले मनसो व्यापारः स्यात् तदा तस्यापि व्यव्जनावमहक्त्रहाले मनसो व्यापारः स्यात् तदा तस्यापि व्यव्जनावमहक्त्रहालदद्याविद्याविमेद-मिलता मतीविंशीर्येत, तस्मात् प्रथमसमयादेव तस्याधमहणमेष्टव्यम् । यथा हि स्वाभिधेयानयीत् 30 भाषमाणैव भाषा भवति, नान्यया; यथा च स्वविषयमृतानर्थानव्ययानिव्यादिज्ञानान्यासरूपां अभन्ते, अन्यया तैषाममद्यक्तिव स्यादिति, एवं स्वविषयमृतानर्यान् प्रथमसमयादा-

रम्य मन्त्रानमेत मनो अवति, अन्यथा अवध्यातिवत् तस्य प्रष्ट्रचितंव न स्यात् । तस्मात् तस्यातुप-रुबिषकाठो नास्ति, तथा च न व्यञ्जनावग्रह इति स्थितम् ।" -विशेषा० इ० गा० २४२,२४३.

पृ० २. पं० ९. 'स्वरूप'-"प्राधवरद्भनः सामान्य-विशेषासकत्वे सत्यप्यर्थावप्रहेण सामान्यक्रप्रस्य गृह्वाति, न विशेष-रूपम् अर्थावप्रहस्येकसामयिकत्वात्, समयेन च विशेष- 

5 प्रहणायोगादिति । सामान्यार्थेश्च कथिद् प्राम-नगर-वन-सेनादिशब्देन निर्देश्योऽपि भवति 
तद्व्यवच्छेदाधेमाह्-स्वरूपनामादिकस्पनारिहत्यम्, आदिशब्दात् जाति-क्रिया-गुण-द्व्य्यपरिग्रहः । 
तत्र रूपसाधर्थानां य आत्मीयच्छुगदीन्द्रियम्यः प्रतिनियतः स्वभावः तत् स्वरूपस् । रूपस्सादिकस्त तदिभायको ध्वनिर्नाम । रूपन-स्वादिका तु जातिः । प्रीतिकरित्पर्य स्पं पृष्टिकरोऽस्य स्सः इत्यादिकस्तु शब्दः क्रियाभयानत्वात् क्रिया । क्रष्ण-नीलदिकस्तु गुणः । पृथि
व्याविक पुनर्देव्यम् । एषां स्वरूप-नाम-नात्यादीनां कस्यना अन्तर्जस्यार्थानारूपा, तया रहितमेवार्थमर्थावप्रदेण गृह्वति जीदः ।" –क्ष्रेण- इ- गण- २५२.

प्र० ४. पं० १०. 'कथं तर्हि' "यदि स्वरूपनामाविकस्पनारहितोऽयोऽर्थावमहस्यविषयः हर्य-षं व्याख्यायते भवद्भिः तर्हि यन्नन्याध्ययनसुत्रे (स्० ३६) प्रोक्तम्—'से जहा नामए केह पुरिसे अन्वत्तं सहं सुणेज्जा तेणं सहेत्ति उम्माहिए न उण जाणह के बेस सहाइ त्ति' तदेतत् कथमविरोधेन नीयते ? । 15 अस्मिन्नान्तसूत्रे अयमर्थः प्रतीयते—यथा तेन प्रतिपत्ना अर्थावमहेण शब्दोऽवगृहीतः इति । भव-नतस्तु शब्दाखुक्केसरहितं सर्वथाऽयुं प्रतिपादयन्ति ततः कथं न विरोधः ? । ग-विशेषा० ए० गा० १५९०

पृ० ४. पं० ११. 'झब्द:' इति'—"अत्रोत्तरमाह—'शब्दस्तेन अवगृहीतः' इति यतुक्तं तत्र 'शब्दः' इति सूत्रकारः प्रतिपादयति । अथवा शब्दमात्रं कपरसादिविशेषव्याष्ट्रस्या अनवधारि-तत्वात् शब्दतयाऽतिथितं गुद्धाति इति एतावताशेन 'शब्दस्तेन अवगृहीतः' इत्युच्यते न पुनः 20 शब्दयुद्ध्या 'शब्दोऽअय्' इत्यच्यवसायेन तच्छब्द्यस्तु तेन अवगृहीतम्, शब्दोश्चेषस्य आन्त-श्रृद्धात्रिकत्वात्, अर्थावग्रहस्य तु एकसामयिकत्वादसम्भव प्वायमिति भावः । यदि पुनरथाव-प्रदे शब्दनिश्ययः स्यात् तदा अपाय एवासौ स्यात् नत्वर्थावग्रहः निश्चयस्यापायरूपत्वात् ।" –विश्वेषाः इ॰ गा॰ २५३.

पृ० १. पं० १२. 'स्यान्मतम्'-''ननु प्रथमसमय एव रूपादिव्यपेहिन 'शब्दोऽयन्' 25 इति शत्ययोऽर्थानमहत्तेन अस्युपगम्यताम्, शब्दमात्रतेन सामान्यत्वात्, उत्तरकालं तु 'प्रायो माधुर्योदयः शङ्कशब्दभर्मो इह पटन्ते, न तु शार्क्षभर्माः सरकर्कशात्वादयः' इति विमर्शतुद्धिरीहा, तस्मात् 'शाङ्क पवायं शब्दः' इति तद्धिरोषस्त्यायोऽस्तु ।" –श्वशेष० १० गा० २५८.

पृ० ४ पं० १५ 'मैबम्, अञ्चन्द'— "यस्माद् न रूपादिरयम्, तेम्यो ब्याइत्ततेन गृही-तत्वात्, अतो 'नाऽञ्जब्दोऽयम्' इति निश्चीयते। यदि तु रूपादिम्योऽपि व्यावृिगृहीता न स्यात्, 30 तदा 'शब्दोऽयम्' इति निश्चियोऽपि न स्यादिति भावः । तस्मात् 'शब्दोऽयं नाऽञ्जब्दः' इति विशेषमतिभास एवाऽयम् । तथा च सत्यस्याऽय्यपायमसङ्गतोऽवमहाभावमसङ्ग इति स्थितम् ।" -विशेषाः वृच्याः २५५.

पृ० ८. पं० १६. 'स्तोक्जहणम्'---"अथ परोऽवमहापाययोविषयविभागं दर्शयन्नाह--

इदं शब्दबुद्धिमात्रकं शब्दमात्रस्तोकविशेषास्तायित्वात् स्तोकविशेषग्रहक्षम्, अतोऽपायो न मवति, किन्तु अवग्रह एवायम् । कः पुनस्ताहिं अपायः ! । 'श्लाङ्कोऽयं शब्दः' हत्यादि-विशेषणिविशिष्टं यज्ज्ञानं तदपायः इहद्विशेषायसाभित्वादिति । इन्तः ! यदि यत् यत् स्तोकं तत् तत् नापायः, तार्हि निष्टवा सांप्रतमपायज्ञानकथा, उचरोचरार्थभ्रहणायेक्षया पूर्वपूर्वार्थ-विशेषायसायस्य स्तोकत्वात् । एवशुचरोचरविशेषग्राहिणामपि श्लानानां तदुचरोचरभेदापेक्षया 5 स्तोकत्वादपायत्वाभावो भावनीयः।" -विशेषाः इ॰ गा॰ २५५.

पू० १. पं०. १६ 'किञ्च शब्दोऽयमिति'—''किश्च, शब्दगतान्वयभेषु रूपादिच्यो ज्यावृत्ती च गृहीतायां 'शब्द एव' इति निद्वयज्ञानं युज्यते । तद्महणं च विमशेमन्तरेण नोपपधते, विमशेहच ईहा, तम्मादीहामन्तरेण अयुक्तमेव 'शब्द एव' इति निद्वयज्ञानम् । अश्च निश्चयकालात् पूर्वमीहित्वा भवतोऽपि 'शब्द एवायम्' इति ज्ञानमिमनतम् ; हन्त ! तार्हि 10 निश्चयज्ञानात् पूर्व असावीहा भवद्वचनतोऽपि सिद्धा ।'' -विशेषा० इ० गा० २५७.

प्ट० ४. पं० १८. 'सा च नागृहीते'—"नन्वीहायाः पूर्व कि तद् बस्तु प्रमात्रा गृहीतम्, यदीहमानस्य तस्य 'शब्द ज्वायम्' इति निश्चयज्ञानसुपत्रायते हैं । नहि कश्चिद् वस्तुन्यगृहीते-ऽकस्मात् प्रथमत एवेहां कुरते । ग - विशेषाः च ग० २५८.

"ईहायाः पूर्वं यत् सामान्यं मृक्षते तस्य तावद् महणकालेन भवितन्त्रयः । स चास्मदः 15 स्युपगतसामियकार्यावमहत्व स्वान्त्रयः न भवति, अस्मदः युपगताझीकारमसङ्गतः । कि तर्हि ? । अस्मदः युपगतार्थावमहत्व पूर्वमेव भवदिभाग्येण तस्य सामान्यस्य महणकालेन भवितन्त्रयः, पूर्वं च तस्याऽस्मदः युपगतार्थावमहत्त्य व्यञ्जनकाल एव वर्तते । भवत्वेवम्, तथापि तत्र सामान्यार्थे- महत्या गवित्यति इत्यादाङ्क्याहः स च व्यञ्जनकाल अर्थपरिसृत्यः, न हि तत्र सामान्यार्थे- विदोष्टर्या वा कथ्यताय्येः प्रतिभाति, तदा मनोरहितेन्द्रियमात्रव्यापारात्, तत्र वार्थयतिभाताऽ 20 योगात् । तस्मात् पारिरोप्यात् अस्मदः भ्युपगतार्थावमहत्य सामान्यमहत्यम्, तदनन्तरं चाव्यव्यातिकं अपयोज्ञीचनरूपा ईहा, तदनन्तरं च 'शब्द एवायम्' इति निश्चयञ्चानमपायः ।" -विश्चयः न गा० २०५

पृ० ४. पं० १९. 'नन्वनन्तरम्'-'न उण जाणह के वेस सद्देशि अस्मिन् नन्दिस्त्रे 'न पुनर्जानाति कोप्येष हाङ्कशाक्षीयन्यतरः शब्दः' इति विशेषस्यैवापरिक्षानमुक्तम् । शब्दतासान्य- 25 भात्रम्रहणं तु अनुज्ञातमेव । शब्दसामान्ये गृहीत एव तिद्विशेषमर्गणस्य युज्यमानत्वात् ।" विशेषा० वृ० गा० १६०.

पूर ४. पंर २१. 'न; श्रुब्द; श्रुब्द; '-"अत्रीष्तमाह-सर्वत्रावमह्म्बरूपं १२६प-यन् 'शब्द: शब्द:' इति प्रज्ञापक एव बदति न तु तत्र ज्ञाने शब्दमतिमासोऽस्ति अन्यथा न समयमात्रे अर्थावमहकाले 'शब्दः' इति विशेषणं युक्तम्, आन्तर्युहृतिकत्वात् शब्दनिश्चयस्य" । 30 -विशेषार वर गार २६१.

ए० ४. पं० २१. 'अर्थावग्रहे'—"यदि तव गाटः श्रुताबष्टम्मः तदा तत्राप्येतत् भणितं यद्त प्रथममध्यक्तस्येव श्रुज्दोक्षेतरहितस्य श्रुज्दमात्रस्य प्रहणम् । केन पुनः सूत्रावयवेनेद- वृक्तम् !। नन्याध्ययने 'से बहा नामए केइ पुरिसे अञ्चरं सद्दं युणेञ्जित्' —अत्र अव्यक्तिरिति कोऽर्थः !। 'शब्दोऽसम्' 'रूपादिर्वा' इत्यादिना प्रकारेणाञ्चकतिस्यर्थः । न च वक्तस्यम्- साङ्ग-चाङ्गमेदारेशया शब्दोहेसस्याप्यञ्चकत्वे षटमाने कृत इतं ज्यास्यानं रूप्यते !, इति; अववस्द्रस्यानाकारोपयोगारूपत्वा स्त्रेऽधीतत्वात् , अनाकारोपयोगास्य च सामान्यमात्रविषयस्यात् , इत्यापुक्तत्वाच्च ।» -विशेषाः वः गा॰ २६२.

पृ० ४. पं० २२. 'यदि च व्यञ्जनावग्रहे'-"ननु यदि व्यञ्जनावग्रहेषि अव्यक्तशब्दग्रहणं भवेत् तदा को दोष: म्यात् , इत्याह—यदि च व्यव्जनावग्रहे असी अव्यक्तशब्दः प्रतिभासत इत्यन्यु-पगम्यते तदा व्यञ्जनावग्रहो न प्राप्नोति, अर्थावग्रह एवासी अव्यक्तश्रावग्रहणात् । अय अस्यापि स्त्रे ग्रोक्तवादस्तित्वं न परिद्वियते तर्हि द्वयोरप्यविदोषः सोपि अर्थावग्रहः सोपि व्यञ्जनावग्रहः 10 प्राप्नोति । - विशेषाः कृष्णाः ६६५.

पृ० १. पं० २५. 'केचिनु'-'केचिदेवमाइ:-यदेतत् सर्वविरोषविमुलस्याज्यक्तस्य सामान्यमात्रस्य भ्रहणं तत् शिशोस्तत्क्षणजातमात्रस्य भवति नात्र विप्रतिपत्तिः, असौ सक्केः तादिविकछोऽपरिचितविषयः । यः परिचितविषयः तस्य आधशस्त्रस्यणसमय एव विशेषविज्ञानं जायते स्पष्टत्वात् तस्य, ततश्चामुमाश्रित्य 'तेण सद्देश्ति उम्महिए' इत्यादि यथाश्रुतमेव व्याख्यायते, 15 त कश्चित्रोषः ।'' 'विशेषाः कृष्णाः २६८.

पृ० १. पं० २७. 'तन्न, एवं हि'-"अत्रोत्तरमाह--यदि परिचितविषयस्य जन्तोः अञ्यक्तशब्दज्ञानं भवति तदा अन्यस्य कस्यचित् परिचिततिष्यस्य पद्वत्ताववीधस्य तस्मित्रेव समये व्यक्तशब्दज्ञानमप्यतिकस्य कस्यचित् परिचितत्तरिषयस्य पद्वत्ताववीधस्य तस्मित्रेव समये व्यक्तशब्दज्ञानमप्यतिकस्य 'श्चाक्लोऽयं शब्दः' इत्यादिसङ्ख्यातीतविशेषश्चाहकमपि ज्ञानं भवदभियायेण स्यात् । दश्यन्ते 20 चुक्षशक्तीनां तारतस्यविशेषशाहकमपि ज्ञानमिति चेत्; न; 'त उण जाणइ के वेस सहे' इत्यस्य सूत्रावयवस्य अगमकत्वपसङ्गत् । विभव्यमशक्तिपुरुष्विषयमेत्रत् त्त्रमिति चेत्; न; अविशेषण उक्तत्वात् सर्वविशेषविषयत्यस्य च चुक्त्यनुपपत्रत्वात् । नहि प्रकृष्टमतेरिप शब्दपर्याणमाहीत्वा उत्तरोत्तरबहुसुभभैम्वण-संमवीऽन्ति तिराधारभर्मणामनुष्पतेः । विशेषः वृश्चाणः १६. ।

25 प्र० ४. पं० ३१. 'अन्ये तु आलोचना'— "विषयविषयिसिवपातसमयानन्तरमाध-महणमवमहः । विषयविषयिसिवपाते सति दर्शनं भवति तदनन्तरमर्थस्य ब्रहणमवब्रहः ।" -मुर्वाध- १. १५.

"पूर्व तत् नास्ति । कुतः ! । अर्थव्यक्षमसम्बन्धाभावादिति । अर्थः—शब्दादिबिषयभावेन परिणतद्वव्यसमृहः, व्यक्षनं तु श्रोत्रादि, तयोः सम्बन्धः, तम्याभावात् । सति हि अर्थव्यक्षन-

10

सम्बन्धे सामान्यार्थाळीचनं स्थात् अन्यथा सर्वत्र सर्वदा तद्भावसस्त्रात् । व्यय्जनावमहा**च पूर्वस्** अर्थव्यक्षनसम्बन्धे नास्ति, तद्भावे च व्यक्षनावमहत्त्येव इष्टत्वात् तत्पूर्वकाळता न स्यादिति ।" -विश्वयाः वृः गाः २०४.

पू० ५. पं० ३. 'न द्वितीयः'—"द्वितीयविकरूपं शोधयन्नाह—अर्थावमहोऽपि सस्मात् व्यञ्जनावमहत्योव चरमसमये भवति तस्मात् पश्चादिष व्यञ्जनावमहावाकोचनज्ञानं न युक्तम्, 5 निरवकाशत्यात् । नहि व्यञ्जनार्यावमहयोरन्तरे कालः समस्ति यत्र तत् त्वदीयमाकोचनज्ञानं स्यात्, व्यञ्जनावमहचरससमय एवार्थावमहस्रोवात् । "-विशेषा- वृ॰ गा॰ २७४.

पृ० ५. पं० ४. 'न तृतीयः'—"पूर्वपस्चात्काल्योनिषिद्धलात् पारिशेल्याद् मध्य-काल्वर्ती तृतीयविकल्योपन्यस्तो व्यञ्जनावभ्रह एव भवताऽऽकोचनाञ्चानलेनाभ्युपगतो भवेत्। एवं च न कश्चिद् दोषः, नाममात्र एव विवादात्।" -विशेषा॰ इ॰ गा॰ २०५.

पृ० ५. पं० ४. 'तस्य च'— "कियतां तर्हि प्रेरुक्गेण वर्षोपनम्, त्वद्रिमायाविसंवाद-लामादिति चेत् ; नैवम् ; विकल्यद्वयस्येह सङ्कायात् , तथाहि तद्वपञ्जनावमहकालेऽम्युपगम्य-मानमाळोचनम् कियस्यालोचनम्, व्यञ्जनानां वा !, इति विकल्यद्वयम् । तत्र प्रथमविकल्यं तृषय-लाह—तरसमालोचनं यदि सामान्यक्त्यस्य अर्थस्य दश्चनिष्यते तर्हि न व्यञ्जनावमहालक्षं भवति, व्यञ्जनावमहस्य व्यञ्जनसम्य-वमात्रक्क्पलेन अर्थशून्यत्वात् । अथ द्वितीयविकल्यनक्षिकृत्वाह— 16 अथ व्यञ्जनस्य शब्दाविविषयपिणतद्वव्यसम्बन्धमात्रस्य तरसमालोचनिष्यते तर्हि कथम् आलोचकलं तस्य घटते (, अर्थशून्यस्य व्यञ्जनसम्बन्धमात्रान्वितत्वेन सामान्यायालोचकत्वा-नृपयत्तेः । " विषया व न गर् २०६.

पृ० ५. पं० ५. 'कि:अ, आलोचनेन'-"अवतु तिस्मन् व्यञ्जनावमहे सामान्यं गृहीतम् तथापि कथमनीहिते तिस्मन् अकस्मादेव अर्थावमहकाले 'शब्द एवः' इति विशेषज्ञानं युक्तम् १। 20 'शब्द एव एवः' इत्ययंहि निश्चयः। न चायमीहामन्तरेण झगित्येव युज्यते। अतो नार्थावमहे 'शब्दः'इत्यादिविशेषबुद्धिर्युज्यते।"-विशेषा० इ० गा० १०८

पू० ५. एं० ६. 'युगप्य'-"अथ अर्थावमहस्समये शब्दाधवगमेन सहैदेहा भविष्यातीति मन्यसे; तत्राह--यदिदमथांवम्रहे विशेषज्ञानं त्वया इप्यते सोऽपायः, स च अवगमस्वमावो निश्च- यस्वरूप हत्यथः। या च तत्समकारूमीहाऽम्युपेयते सा तर्कस्वभावा अनिश्चयात्सिका इत्यर्थः। 25 तत एती ईहापायौ अनिश्चयत्रस्वभावौ अधमर्थावमहे युगपदेव युक्तौ, निश्चयानिश्चययोः एरस्पर- परिहारेण व्यवस्थितत्वात्। अपरश्च समयमात्रकाळोऽर्थावमहः ईहापायौ तु प्रत्येकससङ्ख्येय- समयनिञ्चलो कथम् एकस्मिन्नधांवमहः स्मर्थेन स्वाताम् अत्यन्तानुपरक्रतात्। विशेषाः इ० गा० २०९.

पृ० ५ पं० ७. 'नन्ववग्रहे'—'क्षिममनगृह्णाति, विरेणावगृह्णाति, बह्ववगृह्णाति, अबहुव-गृह्णाति, बहुविधमवगृह्णाति, अबहुविधमवगृह्णाति, एवमनिश्रितम्, निश्रितम्, असन्दिरधम्, 30 सन्दिन्धम्, भ्रुवम्, अश्रुवमवगृह्णाति—इत्यादिना अन्येनावभ्रहादयः शास्त्रान्तरे द्वादशमिर्विशेषणे-विशेषिताः । ततः 'क्षिप्रं विरोण बाऽवगृह्णाति' इति विशेषणान्यथानुपपपेश्वायते नैकसमद्य- मात्रमान एवार्थावमहः, किन्तु चिरकालिकोऽपि, नहि समयमात्रमानतयेकरूपे तस्मिन् क्षिप्रचिरमहणविशेषणसुपपधत इति भावः। तस्मादेतद्विशेषणबळात् असङ्स्येयसभयमानोऽप्यथांवमहो
युज्यते । तथा, बहुनां भोतृणामविशेषेण मासिविषयस्य शक्कमेर्यादिबहुत्येनिर्घोष क्षयोपशमयेचिघ्यात् कोऽप्यबहु अवगुक्काति-सामान्यं ससुदिततृर्यशक्तमात्रमवगुक्काति हत्यर्थः । अन्यस्तु बहुवगृक्काति-शक्कमेर्यादित्र्येवच्यात् भिमान् बहुन् गृक्कातिस्यः। अन्यस्तु क्षी-पुरुषादिवाधस-क्षिप्यमसुरत्वादिबहुविषविशेषविशिष्टलेन बहुविभषवगृक्काति । अपरस्तु अवहुविषविशेषविशिष्टलादबहुः
विषमवगुक्काति । अत एतस्माद् बहु-बहुविषाधनेकविकस्पनानात्वक्षात् अवग्रदस्य कचित्
सामान्यमहणम्, कचित् विशेषद्वणम् इत्युभयमध्यविरुद्धम् । अतो यत् सुत्रे 'तेणं सद्देषि उम्महिए'
इति वचनात् 'क्षव्दः' इति विशेषदिक्षान्यपदिष्टम्, तदप्यर्थावग्रहे युज्यत एव इति केचित्"

पृ० ५. पं० ८. 'न; तस्वतः' "अत्रोचस्माह—बहुबहुविधादिप्राहको हि विशेषावगमो निश्चयः, स च सामान्यार्थमहण ईहां च विना न भवति, यश्च तदविनामावी सोऽपाय एव, कथमर्थावमह इति भण्यते !। आह—यदि बहुबहुविधादिप्राहकोऽपाय एव भवति तर्हि कथमन्यत्र
अवमहादीनामिष बह्वादिमहणमुक्तम् !; सत्यम्; किन्तु अपायस्य कारणमवमहादयः । कारणे च

15 शोग्यतया कार्यस्वरूपमित इति उपचारतस्तऽपि बह्वादिमाहकाः शोच्यन्ते इत्यदोषः । यथेवं तर्हि
वयमपि अपायगतं विशेषज्ञानमर्थावमहिष उपचरिष्याम इति । नैतदेवम्; यतो मुख्यामावे सित
प्रयोजने निमित्ते च उपचारः मवर्तते । न चैवमुपचारे किञ्चित् भयोजनमस्ति । 'तेणं सहेत्ति उगाहिए' इत्यादिस्मुक्तय यथाश्चर्तायनियमनं प्रयोजनमिति चेत् ; नः 'सहेत्ति भणइ वत्ता'
इत्यादिमुक्तर्यावस्य वस्य विगमितवात् । सामर्थ्यव्याख्यानमिदम्, न यथाश्चर्तार्थन्यास्याद्यक्ति । ती विद्या युज्यत्
उपचारः तथा कुरु । न चैतत् सामयिकेऽर्थावमहेऽसङ्ख्येयसामयिकं विशेषम्यस्थ कसमञ्चप्रपर्यतः ।"
विशेषाः कृष । न देत् सामयिकेऽर्थावमहेऽसङ्ख्येयसामयिकं विशेषम्यस्थ कसमञ्चप्रपर्यतः।"
- विशेषाः कृष । न वैतत् सामयिकेऽर्थावमहेऽसङ्ख्येयसामयिकं विशेषमस्य कसमञ्चप्रविवातः।"

पृ० ५. पं० १०. 'अथवा अवग्रहो'— "प्रथमं नैश्चियके अर्थावमहे स्पादिन्योऽज्यावृः चमञ्यकं शब्दाविबस्तुसामान्यं गृहीतं ततः तस्मिन्नीहिते सित 'शब्द एवाऽयम्' इत्यादितिश्च- विक्राप्त प्रत्यकं शब्दाविबस्तुसामान्यं गृहीतं ततः तस्मिन्नीहिते सित 'शब्द एवाऽयम्' इत्यादित्तश्च- विक्राप्त प्रत्यादित्तश्च- विक्राप्त प्रत्यादित्तश्च- विक्राप्त प्रत्यादित्तश्च- विक्राप्त प्रत्यादित्तश्च- विक्राप्त प्रत्यादित्तस्य प्रवाद एवायम्' इतित्त्रस्यः प्रयादेशप्रयादेशि सन्तुप्त्रपाद्यश्चमहो भण्यते हेतः उपायोपस्तात इति, अनेन वोपचारस्यकं निमित्तं स्वित्तम् । 'शाङ्कोऽय्व शद्य- दे द्वायोप्यविदो- वापेश्वस्य येनाऽस्ती सामान्यश्चवद्वरस्य सामान्य गृह्वित इति, अनेन तृपचारस्येव द्वितीयं निमित्त- वापेश्वस्य येनाऽस्ती सामान्यश्चवद्वरस्य सामान्य गृह्वित इति अति व 'शाङ्कोऽयम्' हत्यादिभाविविशेषपेश्वयाद्यं सामान्यम् । तस्माद्यंवस्य एप्यविशेषपेश्वया सामान्यं गृह्वस्य त्याप्तयादन- वित उक्तम् । ततस्तदनन्तरं कि भवति । ततः सामान्येन शब्दनिक्चयरूप्त्या प्रथमापायादन-

न्तरम् 'किमयं शब्दः शाङ्कः शाङ्कां वाः इत्याविक्षयेद्य मक्तिते । ततस्तद्विशेषस्य-शङ्कमभवत्वादेः शब्दविशेषस्य 'शाङ्क एवायम्' इत्याविक्षयेत्य निश्चयक्ति । अयमपि च भूयोन्यतद्विशेषाक्षक्त्यावतः ममातुर्माविनीमीहामपायं चापेक्ष्य, एप्यविशेषापेक्षया सामान्यालम्बनत्वाञ्चार्थावयद्व इत्युपचर्यते । इयं च सामान्यविशेषापेक्षा तावत् कर्तव्या यावदन्त्यो वस्तुनो विशेषः ।
यस्माच विशेषात् परतो वस्तुनोऽन्ये विशेषा न सम्भवन्ति सोऽन्त्यः, अथवा सम्भवत्वपि अन्य- 5
विशेषेषु यतो विशेषात् परतः प्रमातुस्तिज्ञज्ञासा निवर्तते सोऽन्त्यः, तमन्त्यं विशेषं यावद् व्यावहारिकार्थावयदेहापायार्थं सामान्यविशेषायेक्षा कर्तव्या ।» -विशेषा० वः गा० २८२-४.

''सर्वत्र विषयपरिच्छेदे कर्तन्त्रे निश्चयतः ईहापायौ भवतः 'ईहा, पुनरपायः, पुनरीहा, पुनरपायः, पुनरीहा, पुनरपायः, पुनरीहा, पुनरपायः, इत्थयं क्रमेण यावदन्त्यो विशेषः तावदीहापायावेब सवतः, नार्धावमहः। किं सर्वत्रैवमेव ?। नः आध्रमन्त्रवस्तं सामान्यमात्रारुम्बनमेकं सामयिकं ज्ञानं कुक्त्वाऽन्यत्रेहापायौ भवतः। 10 इदं पुनर्नेहा, नाप्यपायः, किन्तु अर्धावमह एव । संन्यवहारार्थं न्यावहारिकजनमतीत्यपेकं पुनः सर्वत्र यो योऽपायः स स उत्तरीत्तरेहाऽपायापेक्षया, एप्यविशेषायेक्षया चोपचारतोऽर्धावमहः। एवं च तावद् नेयम् यावतारतम्येनोत्तरोक्षरिवशेषाकाङ्क्षा प्रवर्तते। "-विशेषा- इन गा- २८५.

"लोकेऽपि हि यो विशेषः सोऽपि अपेक्षया सामान्यस्, यत् सामान्यं तद्य्यपेक्षया विशेषः हित व्यवह्रियते, तथाहि—'शब्द एवायम्' इत्येवमध्यवस्तिोऽर्धः पूर्वसामान्यापेक्षया विशेषः, 15 शाङ्कोऽयम्' इत्युवर्गावेशेषया विशेषः, 15 शाङ्कोऽयम्' इत्युवर्गावेशेषया विशेषः, 15 शाङ्कोऽयम्' इत्युवर्गावेशेषया विशेषः, 15 शाङ्कोऽयम् इत्युवर्गावेशेषया विशेषः औपचारिकावम्रहे सत्येव घटते नान्यथा तदनम्युपगमे हि प्रथमापायानन्तरमीहानुत्थानम्, उत्तरविशेषाम्रहणं चाम्युपगतं भवति । उत्तरविशेषामृष्टणं च प्रथमापायानन्तरमीहानुत्थानम्, उत्तरविशेषामृष्टणं चाम्युपगतं भवति । उत्तरविशेषामृष्टणं च प्रथमापायान्यवह्तितार्थस्य विशेषव्यवह्मा सामान्यविशेषव्यवह्मा सामान्यवह्मा । इति सिद्धो व्याव-हारिकार्थावमृष्टः सामान्यविशेषया वासान्यवह्मा । इति सिद्धो व्याव-हारिकार्थावमृष्टः । अध्यवह्मा अध्यवह्मा सामान्यवह्मा सामान्यविशेषया सामान्यविशेषयम् । इति सिद्धो व्याव-हारिकार्थावमृष्टः । अध्यवस्य सामान्यविशेषया सामान्यविशेषया सामान्यविशेषया सामान्यविशेषया सामान्यविशेषया । इति सिद्धो व्याव-हारिकार्थावमृष्टः । अध्यवस्य सामान्यविशेषया सामान्यविशेषया सामान्यविशेषया सामान्यविशेषया । इति सिद्धो व्याव-हारिकार्थावमृष्टः । अध्यवस्य सामान्यविशेषया सामा

पु० ५. पं० १५. 'अवगृहीत'—''नैश्चायिकार्याद्वसे यत् सामान्यग्रहणं रूपाधन्याद्वायाऽ- 25 व्यक्तवस्तुमात्रग्रहणम्, तथा व्यवहारार्यावग्रहेऽप यदुक्तविशेषापेक्षया शब्दादिसामान्यग्रहणम्, तस्मादनन्तरमीहा प्रवर्तते । कथम्मृतेयम् १। तत्र विधमानस्य गृहीतार्थस्य विशेषविमर्शक्षारण् मीमांसा । केनोक्षेत्रेल १। किसेन्दं बस्तु मया गृहीतय्-शब्दः, अश्चव्दो वा रूपसादिरूपः' १। इदं च निश्चयार्थावग्रहानन्तरसम्पित्याः स्वरूपमा । अव व्यवहारार्थाक्षमहानन्तरसम्पित्याः स्वरूपमाह—'शाञ्च-शार्क्यमेमेन्ये कोऽयं भवेत् शब्दः शाञ्चः शाङ्का श्वारं वा' १ इति । नतु 'कि राज्दः अश्वव्यायार्थाकं संशयशानमेव कथमीहा भवितुमहित १; सत्यम्, किन्तु दिक्मात्रमेवेद-मिह दिश्वतम्, परमार्थतस्य व्यविदेक्षमीत्राक्तप्तपरः अन्यवयभीषटनप्रवृष्टशापायाभिन्नस्य एव नेषः—हिंद्य हष्टव्या ।" –विषयेषः व नाः २ ८९.

पू० ५. ए० १७. 'नचेयं सञ्चय'—"निर्णयादश्चेनात् ईहायां तत्पसङ्ग इति चेत् ; न; अर्थादानात् ।" "सञ्चयपुर्वकत्वाच ।" -तत्त्वाचरा १. १५. ११, १२ । ४. न. २. ११.

पृ० ५. पं० १९. 'ईहितस्य'-"भञ्जरितमध्यदिगुणत्वात् शङ्कस्येबाऽयं शब्दः, न श्रक्कस्य इत्यादि यद् विशेषविज्ञानम्, सोऽपायो निश्चयज्ञानरूपः। कृतः ?। पुरोवर्त्यश्चमाणामनु-५ सम्मावादिस्तव्यनिश्चयसद्भावात् , तत्राविद्यमानार्थवर्माणां तु व्यत्तिरुक्तमावात् नारितव्यनिश्चय-सस्वात् । अयं च व्यवहारार्थावप्रहानन्तरभावी अपाय उक्तः, निश्चयावप्रहानन्तरभावी तु श्रोत्र-प्राह्मत्वादिगुणतः 'शब्द एवायं न रूपादिः' इति ।" -विश्चेषाः इ॰ गा॰ २९०.

पूर प. पं २ २१. 'स एव हह'-"अपायेन निश्चितेऽर्घे तदनन्तरं यावदद्यापि तद्यांपयो-मसातत्येन वर्षते न तु सस्मालिवर्षते तावत् तद्योपयोगादिवन्धुतिर्नाम सा धारणायाः प्रथमभेदो 10 भवति । ततः तस्य अर्घोपयोगस्य यदावरणं कमै तस्य क्षयोपश्मेन जीवो बुज्यते येन कालान्तरे इन्द्रियन्यापारादिसामग्रीवशात् पुनरपि तद्योपयोगः स्मृतिरूपेण समुन्नीलित सा चेयं तदा-बरणक्षयोपशमक्रपा वासना नाम द्वितीयस्तद्वेद्दो भवति । कालान्तरे च वासनावशात् तदर्थस्य इन्द्रियेरुरक्टबस्य अथवा तैरनुष्क्टबस्यापि मनसि या स्मृतिराविभेवति सा तृतीयस्तद्वेद्द इति । एवं त्रिमेदा घारणा विज्ञेया," -विशेषा० इ० गा० २९९.

15 पृ० ५. पं० २५. 'केचित्रु अपनयन'-"तत्र विधमानात् स्थाण्यादेयोंऽन्यः तत्प्रतियोगी तत्राविधमानः पुरुवादिः तद्धितेथाः शिरःकण्ड्यनचळनस्पन्दनादयः तेषां पुरोवर्तिनि सद्भतेऽर्धे अपनयनं निषेधनं तदन्यविशेषापनयनं तदेव तन्मात्रम् अपायमिण्ळन्ति केचन अपायनपनयनम्-पाय इति व्युत्पस्पर्धविभितमनस्काः । अववारणं धारणा इति च व्युत्पस्पर्धभ्रमितास्ते धारणां वुवते । किं तत् १। सद्भत्विशेषावभाष्य-सद्भतस्तत्र विवक्षितप्रदेशे विधमानः स्थाण्वादिर्पर्धवि-20 शेषस्तस्य 'स्थाण्येत्वयय' इत्यवधारणम् ।" -विशेषा० इ० गा० १८५.

पू० ५. पं० २७. 'तद्भ'-"तदेतद् व्यविद्धमाह्-कृत्यचित् प्रतिपत्तुः तद्रन्यव्यितिकमात्राद-बगमनं तिश्वयो भवति तवथा न्यतो नेह् श्चिरःकण्ड्वयनादयः पुरुषधर्मा दृश्यन्ते ततः स्थाणुरेवा-यमिति । कृत्यापि सङ्कृतसमन्वयतः यथा स्थाणुरेवायं वल्ल्युःसर्पणवयोनिकयनादिधर्माणामि-हान्वयादिति । कृत्यचित् पुनः तदुमयाद् अन्वयन्यतिरेकोभयात् तत्र सूतेऽर्बेऽवगमनं भवेत्; 25 तष्या यस्मात् पुरुषधर्माः श्चिरःकण्ड्वयादियोऽत्र न हृद्यन्ते वल्ल्युःसर्पणादयम्तु स्थाणुवर्माः समीक्ष्यन्ते तस्मात् स्थाणुरेवायमिति । नववमन्वयात् त्र्यतिरेकात् उभयाद्वा निश्चयं जायमाने कश्चिद्दोषः । परव्याख्याने तु वक्ष्यमाणन्यायेन दोषः ।" -विश्वण- वृ- गा॰ १८६.

पृ० ५. पं० २८. 'अन्यया स्मृतेः'—"वस्माद् व्यतिरेकाद् अन्वयाद्वसवाद्वा भृतार्थ-विदेशवाकारणं कुर्वतो योऽज्यवसायः स सर्वोऽपि अपायः न तु सद्भृतार्थविदोषावधारणं धारणा 30 इति । व्यतिरेकोऽपायः अन्वयस्तु धारणा इत्येवं मतिज्ञानपुतीयभेदस्य अपायस्य मेदे अभ्यु-पगम्यमाने पश्च मेदा भवन्ति आभिनिबोधिकज्ञानस्य । तथाहि—अवग्रहेहापायधारणाळ्ळ्या-श्चतारो भेदास्तावत् स्वयैव पूरिताः पश्चमस्तु मेदः स्यृतिळ्ळ्यणः प्रामोति अविच्युतेः स्वसमान- काळभाविन्यपाये अन्तर्भृतत्वात् , वासनाशास्तु स्फूयन्तर्गतत्वेन विवक्षितत्वात् , स्फूतेरमन्यशरण-त्वात् मतेः पञ्चमो मेदः प्रसज्यते । । - निरुपा० वृ० गा० १८७.

पृ० ५. पं० २९. 'अथ नास्त्येव' "ननु यथैव मया व्याख्यायते-व्यतिरेक्ष्पुलेन निश्चयोऽपायः, अन्वयपुलेन तु धारणा-इत्येवमेव चतुर्विवा मतिर्युक्तितो घटते। अन्यथा तु व्याख्यायमाने-अन्वयव्यतिरेक्षयोर्द्धयोरप्यणायलेम्युपगम्यमाने-अवभदेहापायमेव्तिक्षमेदा मतिर्भ-वति न पुनश्चतुर्धो, धारणाया अघटमानत्वात्। ग निक्षेषाः इ० गा० १८७.

पृ० ५. ५० २९. 'तथाहि उपयोगोपरमे'—"कथं पुनर्भारणाऽभावः?। इह तावत् निश्चयोऽपायमुखेन घटादिके वस्तुनि अवमहेहापायरूपतया अन्तर्सेह्रवैममाण एव उपयोगो जायते तत्र
च अपाये जाते या उपयोगसातत्यरुक्षणाऽविच्युतिमेवताऽन्युपगम्यते सा अपाय एव अन्तर्भृता
इति न ततो व्यतिरिक्ता । या तु तस्मिन् पटाषुपयोगे उपरते सति सङ्ग्वयमसङ्ग्र्वयं वा कार्ल 10
वासनाऽन्युपगम्यते 'इदं तदेव' इतिरुक्षणा स्यतिश्चाङ्गीक्रियते सा मत्यंशरूपा घारणा न भवति
मत्युपयोगस्य प्रागेवोपरतत्वात् । अञ्चलक्षणान्यत्रिक्षणान्यत्रेपायस्य प्राग्वयानाउपयोगस्य प्रागेवोपरतत्वात् । अञ्चलक्षणान्यत्रेपानपयोग्वपोगेऽपि या अन्वयमुक्षप्रमामाउपयोगस्य प्राप्ता सत्या इप्यते सा यतोऽपाय एव भवताऽन्युपगम्यते तत्तत्तत्रापि नास्ति धृतिः
धारणा, तस्तादुपयोगकाले अन्ययमुन्तावयारण्याः अपटमानकत्वात् त्रियेव भवदिभाग्रयेण मतिः 15
प्रामोति न चतुर्थ इति पूर्ववक्षामिमायः । ११ –११क्षेषा० इ० गा० १८८–५.

पुठ ६. पं० ३. 'न; अपाय'-"अत्रोत्तरमाह-कालन्तरे या स्वृतिरूपा बुद्धिरुपतायते, निवह सा पूर्वप्रकृतादपायात् निर्ववादम्यपिकैव पूर्वप्रकृतापायकाले तस्या अभावात् साम्प्रता-पायस्य तु वस्तुनिश्चयमात्रकल्लेन पूर्वपर्दश्नानुसम्भागायोगात् । यस्माच वासमाविरोषात् पूर्वोपरुवश्चवस्वाहितसंस्कारल्लेणात्-'इदं तदेव' इतिरुक्षणा स्वृतिर्भवति सापि वासनापाया- 20 दभ्यपिका इति । या च अपायादगन्तरमिक्च्युतिः प्रवर्षते साऽपि । इद्युक्तं भवति-यस्मिन् समये 'स्थाणुरेवायम्' इत्यादिनिश्चयस्वरूपोऽपायः प्रवृतः ततः समयादूष्विमपि 'स्थाणुरेवायमं स्थाणुरेवायम्' इत्यादिनिश्चयस्वरूपो कविद्यायम्' क्वित्वप्रायाः अन्तर्महृत्यं कविद्यायम् प्रवृत्तिः सापि अपायावित्युतिः प्रवप्रवृत्तिः प्रवप्रवृत्वन्त्रस्य या अन्तर्महृत्यं कविद्यायमृत्विः सापि अपायावित्युतिः प्रवप्रवृत्वन्त्रस्य सापि अपायावित्युतिः प्रवप्रवृत्वन्त्रस्य सापि अपायावित्युतिः प्रवप्रवृत्वन्त्रस्य स्थापः विश्वस्य सिद्धा ।" -विशेषाः वृत्व गा० १८८-९.

पु० ६. पं० ७. 'नन्यविच्युति'—"नन्यविच्युतिस्यृतिलक्षणौ ज्ञानभेदौ गृहीतमाहि-त्वाश्च प्रमाणम्, वासना त्व किरूपा १, इति वाच्यम् । संस्काररूपेति चेत् ; कोऽयं संस्कार:— स्यृतिज्ञानावरणश्चयोपश्चमो वा तज्ज्ञानजननशक्तिवाँ, तद्वस्त्वविकस्यो वा १, इति प्रयी गतिः । तत्राथपश्चद्वयम्युक्तम् , ज्ञानरूपलाभावात् । तृतीयपश्चोप्ययुक्त एव भिष्ठभर्षकवासनाजनकत्वा-दप्यविच्युतिमृद्वतिद्वरीयाथपायविषयं बस्तु भिक्तभर्षकमेव, इति कथमविच्युतेगृहीतमाहिता १ । ४० स्यृतिरिप पूर्वोचरद्योनद्वयानिथगतं वस्त्वेकत्तं गृङ्गाना न गृहीतमाहिणी । सर्क्वयमसङ्क्येयं वा कार्ले वासनाया इष्टलात् , एतावन्तं च कालं तद्वस्त्विकस्यायोगात् । तदेवसविच्यति-सृति- बासनारूपायास्त्रिविधाया अपि धारणाया अघटमानत्वात् त्रिवैव मतिः प्राप्नोति, न चतुर्धा ।" विशेषा कृ गा॰ १८५.

पु० ६. पं० ११. 'न; स्पष्ट-'-"अत्रोच्यते-यत् तावत् गृहीतमाहित्वादिवस्युतेरमामाण्यसुच्यते, तद्युक्तस्, गृहीतमाहित्वरुक्षणस्य हेतोरसिद्धलात्, अन्यकारुविशिष्टं हि बस्तु

5 प्रथमप्रवृत्तापायेन गृह्यते, अपरकारुविशिष्टं च द्वितीयादिवारा प्रवृत्तापायेन । किह्य, स्पष्टस्पष्टतर-स्प्ष्टतम्वासनापि स्पृतिविज्ञानासग्णकर्मश्रयोपश्रमक्त्या तद्विज्ञानजनशक्तिक्ता नेष्यते
सा च यथपि स्वयं ज्ञानक्त्या न भवति तथापि पूर्वपृत्तव्यात्रव्याज्ञानकार्यत्वात् उत्तरकारभाविस्पृतिकराज्ञानकारणत्वाच उपचारतो ज्ञानक्त्याऽस्युत्तगम्यते । तद्वस्तुविकरुपक्षस्तु अतम्युपगमादेव निस्तः । तस्मादविज्युति-सृति-वासनाक्त्याचा वारणायाः स्थितत्वात् न मतेक्षविज्यम्,

10 किन्दु चतुर्थो सेति स्थितस् ॥" -बक्षण- व- गा० १८९.

पृ० ६. पं० १६. प्रेन च अवग्रहां — "नतु एते अवग्रहादय उत्क्रमेण, व्यतिक्रमेण वा किसिति न भवन्ति, बद्धा ईहादयस्वयः, हो, एको वा कि नाम्युप्तम्यन्ते, यावत् सर्वेप्यभ्युपगम्यन्ते ?। इत्याशक्ष्याह—तत्र पश्चातुपूर्वीभवनमुक्तमः अनानुपूर्वीभवनं त्वतिक्रमः, कराचिदवग्रहमतिक्रम्येहा, तामप्यतिकङ्क्याऽप्रायः, तमपि अतिष्कृत्य धारणेति—एवमनानुपूर्वीरूपोऽतिक्रमः।

15 एताम्यामुक्तम-व्यतिक्रमाध्यां तावदवग्रहादिभिवेन्तुम्बरूपं नावगम्यते। तथा एवां मध्ये एकस्याप्यम्यतस्य वैकरूपे न वस्तुस्वभावाववोधः, ततः सर्वेष्यमी एष्टब्याः, न त्वेकः, हो,
प्रयो वा। " -विशेषा॰ वृ॰ गा॰ २९५.

"यस्मादनग्रहेणाऽगृहीतं वस्तु नेष्ठते ईहाया विचारस्थलवात्, अगृहीते च वस्तुनि निरा-स्पदलेन विचारायोगादिति अनेन कारणेनादाववग्रहं निर्दिश्य पश्चादीहा निर्दिश्च। न चाऽनी-20 हितस् अपायविषयतां याति अपायस्य निश्चयरुपत्वात्, निश्चयस्य च विचारपूर्वकत्वात् । एत-दिमगायवता चाऽपायस्यादौ ईहा निर्दिष्टीत । न चापायेनानिश्चितस् धारणाविषयीभवति वस्तु धारणाया अर्घावधारणस्थपतात्, अवगरणस्य च निश्चयमन्तरेणायोगादित्यमिमायः।ततश्च धारणादौ अपायः। ततः किस् १। तेनावग्रहादिकानो न्याय्यः नोत्कमाऽतिक्रमी, यथोक्तन्यायेन वस्त्ववगमामावश्चसक्कात्।" -िश्चेणः कृत्याः २९६.

25 "श्रेयस्यापि शब्दादेः स स्वभावो नास्ति य एतैर्यश्रहादिभिरेकादिविक्रकेरिभेतैः समकालभा-विभिन्नः उक्तमातिकमयद्भिरवावगम्येत किन्तु शब्दादिश्रेयस्वभावोपि तथेव व्यवस्थितो यथा अमीभिः सर्वैः भिन्नैः असमकालैः उक्तमातिकमरहितैर्द्व सम्पूर्णो यथावस्थितद्ववावगम्यते अतो श्रेयवश्रीमाप्येते यथोक्तस्या एव भवन्ति । । -विश्वेषः इ० गा० २९७। प्र. त. २, १४-१०.

पृ० ६. पं १७. 'कान्यद्र-यस्ते' "अत्र परः माह-अनवरतं दृष्टपूर्वे विकारियते, माधिते च 30 विषये पुनः कान्यत् कदान्यद्रवालिकतेऽवमहेहाद्वसमितकस्य मथमतोऽप्यपाय एव रुस्यते निर्विदा-दमरोषेरपि बन्तुमिः, यथा 'असौ पुरुषः' इति । अन्यत्र पुनः कान्यत् पूर्वोपरुक्ये सुनिश्चिते इदवासने विषये ऽवमहेहापायानतिलङ्क्य स्पृतिक्षण चारणैव रुस्यते, यथा 'इदं तद् वस्तु यद-

20

25

30

स्माभिः पूर्वसुपढळभम्' इति । तत् कथतुच्यते – उत्कमातिकमाभ्याम् , एकादिवैकस्ये च न वस्तु-सद्भावाधिगमः १ ।"-विशेषाः ह॰ गा॰ २९८.

"भ्रान्तोऽयमनुभव इति दर्शयकाह—यथा तरुणः समर्थपुरुषः प्रयापत्रशतस्य सुन्यादिना वेधं कुर्वाण एवं मन्यते— मया एतानि युगण्द् विद्वानि । अथ च प्रतिपत्रं तानि कालमेदेनैव निष्यन्ते । न चातौ तं कालमतिसौक्ष्माय् मेदेनाववृद्ध्यते । एवमत्राणि अवमहादिकालस्य अतिस्ह्मतया 5 दुर्विभावनीयत्वेन अप्रतिभासः , न पुनरसन्तेन । तस्मादुत्तल्यमञ्चाववेभोदाहरणेन भ्रान्त एवायं प्रथमत एव अपायादिप्रतिभासः । यथा ग्रुण्कञ्चरकृत्वेदशने युगण्यदेव सर्वेन्द्रियविषयाणां प्रपत्तिभादि । तथे प्रथमत्य प्रतिभाति । तथे प्रथमत्य प्रतिभाति । न सर्वेन्द्रयं स्वविषयज्ञानप्रयाद्रपतिभासः । प्रधानामणि इन्द्रियविषयाणां प्रपत्तिभाति । तथे सत्याद्रपतिभातः । द्रान्यत्रभात् प्राप्तत्तानानु । तथाहि---मनसा सद् संयुक्तमेविन्द्रयं स्वविषयज्ञानप्रत्ताद्यति, नान्यथा, अन्यमनस्कस्य रूपादिज्ञानानु 10 पलमात् । न च सर्वेन्द्रियं सह मनो युगपत् संयुज्यते तस्येकिपयोगरूपत्वात् , एकत्र ज्ञातिर एककालेटनेकेः संयुज्यतिनात्वाउयोगात् । तस्मात् मनसोऽस्यनाऽऽप्रश्चारित्वेन कालमेदस्य प्रतिभाति । परमार्थतस्य अस्यामणि काल-मेद्रप्ते । तते। त्राप्ति । तते। यथाऽसी आन्तैनीयल्कस्यते तथाऽत्रमहादिकालेऽपीति प्रकृतम् । तदेवष् अवग्रहादीनां नैकादिवेकस्यम् , नाऽप्युक्तमातिकमौ इति स्थितम् । व्यत्वेषा प्रवत्व प्रभाव स्व भावते ।

पृ० ६. पं० १९. 'तदेवम् अर्थावग्रहादयः' -विशेषा० वृ० गा॰ ३००, ३०१.

पृ० ६. पं० २०. 'अथवा बहुबहु'-विशेषाः इ॰ गां॰ ३०७.

पृ० ६, पं० २१. 'बह्वादयक्च भेदाः'-विशेषा० वृ० गा० ३०८-३१०.

पृ० ७. पं० २. 'श्रुतम् अक्षुर'-आव॰ नि॰ १९. विशेषा॰ वृ॰ गा॰ ४५४.

पृ० ७. पं० ३. 'तत्राक्षरं त्रिविधम्'-विशेषा॰ वृ॰ गा॰ ४६४-४६६.

पृ० ७. पं० ४. 'एते चोपचाराच्छुते'-''सन्जाक्षरम्, न्यजनाक्षरं चैते द्वे अपि भाव-श्चतकारणत्वात् द्रव्यश्चतम्।" -विदेशाः इः गा० ४६७.

पृ० ७. पं० ५. 'गृत्त्व परोपदेश्चं विनापि'-"यदपि परोपदेशजल्बमक्षरस्य उच्यते तदपि सञ्ज्ञा-च्यञ्जनाञ्चरयोरेवाऽवसेयम् । रुञ्यक्षरं तु क्षयोपशमेन्द्रियादिनिमित्तमसञ्ज्ञिनां न विरुध्यते । ग -विशेषा० वृ० गा० ४७५.

"यथा वा संज्ञिनामि परोपदेज्ञामानेन केषाधिवतीवयुग्धमक्रतीनां पुळीन्द्रवाळगोपाळ-गवादीनामसत्यिप नरादिवर्णविदेशेविषये विज्ञाने ळ्ळ्यक्षरं किमपीक्ष्यते, नरादिवर्णोच्चारणे तच्छ्रवणात् अभियुक्षनिरीक्षणादिदर्शनाच । गौरिपि हि श्ववज्ञबहुळादिश्चव्येन आकारिता सती स्वनाम जानीते प्रवृत्तिनिक्ष्यादि च कुर्वती इस्यते । नेषेषां गवादीनां तथाविषः परोपदेशः समस्ति । " न्विशेषाः कृष्णा ४०५.

पृ० ७. पं० ७. 'अनुश्चरश्चत'-आव॰ नि॰ २०.

"इह उच्छुसिताचनक्षरश्चतं द्रव्यश्चतभात्रमेक्षवगन्तत्र्यं शब्दमात्रत्वात् । शब्दश्च भावश्चतस्य कारणमेव । यच कारणं सद् द्रव्यमेव भक्तीति भावः । भवति च तथाविघोच्छुसितनिःश्वसि- तादिश्रवणे 'सन्नोकोऽयम्' इत्यादिश्वानम् । एवं विशिष्टाभिसन्धिपूर्वकनिष्ठश्र्वकासितश्चतादि-श्रवणेऽपि आत्मञ्जानादि ज्ञानं बाच्यमिति । अथवा श्रुतज्ञानोपयुक्तस्य आत्मनः सर्वात्मनैवोषयोगात् सर्वोऽपि उच्छ्वसितादिको व्यापारः श्रुतमेवेद् मतिषचव्यम् इति उच्छ्वसितादयः श्रुतं भवन्त्येवेति । ॥ -श्रिवेषा ॰ वृ॰ गा॰ ५०२.

पृ० ७. पं० १०. 'सञ्ज्ञिश्रृतम्' -विशेषा० वृ० गा० ५०४.

"इदसुकं भवति -यतः स्मरणचिन्तादिदीर्धकालिकज्ञानसहितः समनस्कपश्चेन्द्रयः संजी-त्यागमे व्यवहियते, असंज्ञी तु प्रसद्धमतिष्धमाश्रित्य यद्यप्येकेन्द्रियादिरिप रूम्यते तथापि समनस्कसंज्ञी तावत् पश्चेन्द्रिय एव भवति । ततः पर्युज्ञासाश्र्यणात् असंज्ञ्यपि अमनस्कसंमुर्च्छन-पश्चेन्द्रिय एव आगमे प्रायो व्यवहियते । तदेवंभूतः संज्ञासंश्चित्यवहारो दीर्धकालिकोपदेशेनैव 10 उपपद्यते ।" -विशेषाः इ॰ गा॰ ५२६.

पु० ७. पं० ११. 'सस्यक्'—"इह अक्कथविष्टम् आचारादि श्रुतम्, अनक्कथविष्टं तु आवश्यकादि श्रुतम् । एतद् द्वितयमपि स्वामिक्तानिरऐक्षं स्वभावेन सम्यक् श्रुतम् । ठौकिकं तु भारतादि प्रकृत्या मिथ्याश्रुतम् । स्वामित्वकित्तायां पुनः ठौकिकं भारतादौ ठोकोचरे च आचारादौ भजनाज्वसेया । सम्यव्हिष्परिगृहीतं भारताचापि सम्यक् श्रुतं साववमापित्व-भवदेतुस्वादियथा15 वस्थिततस्वस्वरूपबोधतो विषयविभागेन योजनात् । सिय्यादृष्टिपरिगृहीतं तु आचाराव्यपि अययावस्थितबोधतो वैपरीरुनेन योजनादिति भावार्थं इति । विषयाः वृः गार्० ५२०.

पृ० ७. पं० १४. 'सादि द्रव्यतः'—विशेषाः वृ० गा० ५३८, ५४८.

पृ० ७. पं० १४. 'क्षेत्रतक्ष'-"क्षेत्रे चिन्त्यमाने मरतैरावतक्षेत्राण्याश्रित्य सम्यक् श्रुतं सादि सिनियनं च भवति । एतेषु हि क्षेत्रेषु प्रथमतीर्थकरकाले तद्भवतीति सादित्वं, चरमतीर्थ- कृषीर्थानते तु अवश्रक्षत्र व्यवस्थ्यितं इति सपर्यवसितत्वमिति । काले तु अधिक्षित्रमाणे हे समे उत्सर्पिण्यक्सरिण्यौ समाश्रित्य तत्रैव तेष्वेव भरतैरावतेष्वेतत् सादि सपर्यवसितं भवति; ह्रयोरिष समयोः तृतीयारके प्रथमं भावात् सादित्वम् । उत्सर्पिण्यां चतुर्वस्यादौ, अवसर्पिण्यां तु पञ्चम-स्पान्ते अवस्यं व्यवस्थ्येदात् सपर्यवसित्तवम् । मावे पुनः विचार्यमाणे प्रज्ञापकं गुरुम्, श्रुतप्रज्ञाप-नीयांश्च अर्थानासाय इदं सादि सपर्यवसितं स्वादिति ।" — विशेषाः इ॰ गा॰ ४४६.

25 पृ० ७. पं० १५. 'अनादि द्रव्यतः'—"द्रत्ये—द्रव्यविषये नानापुरुषान् नारफतिर्थङ्गनु-प्यदेवगतान् नानासम्यम्दृष्टिजीबानाश्रित्य श्रुतज्ञानं सम्यक्ष्युतं सततं वर्षते । अयुत् भवित भविष्यति च । न तु कदाचिद् व्यवच्छियते । ततस्तानाश्रित्य इदम् अनादि अपर्यवसितं च स्थादिति भावः । क्षेत्रे पुनः पष्टमहाविदेहङ्क्षणान् विदेहानक्षीकृत्य । काले तु यस्तेप्वेव विदेहेषु कालः अनवसर्पिण्युस्तर्पि-णीरूपः तमाश्रित्य । भावे तु क्षायोपश्रमिके श्रुतज्ञानं सततं वर्षते अतोऽनादि अपर्यवसितम् । 30 सामान्येन हि महाविदेहेषु उत्सर्पिण्यसर्पिण्यभावरूपनिजकालविशिष्टेषु द्वादशाकश्रुतं कदापि न ज्यवच्छियते तीर्थक्ररगणभरादीनां तेषु सर्वदेव भावात् ।"—विश्वा॰ वृ॰ गा॰ ५४८.

पृ० ७. पं० १७. 'ग्रामिकम्'-गमा मक्कमा गणितादिविशेषाश्च तह्रहुलं तत्तक्क्कं गमिकम् ।

15

अभवा गमाः सद्दशपाठाः ते च कारणवरीन यत्र बहुबो भवन्ति तद् गमिकस्, तश्चैवंविषं प्रायः दृष्टिबादे । वत्र प्रायो गाथाश्चीकवेष्टकाषसदृशपाठात्मकं तदगमिकस्, तश्चैवंविषं प्रायः कालिकञ्चतम् । श्वीवा॰ वृ॰ गा॰ ५४९.

ए० ७. पं० १८. 'अङ्गप्रविष्टम्'-"गणभरकृतं वदत्रमस्वकाणतीर्थकरादेशनिय्यलम् , ध्रुवं च यण्ड्रुतं तदङ्गप्रविष्टपुच्यते, तच द्वादशाङ्गीरूपमेव । यस्तुनः स्थविरकृतं सुक्तरुर्धामिधानं चस्तं च 5 तद् आवश्यकप्रकीर्णादिश्वतम् अङ्गबाद्धमिति ।" -विशेषा॰ र॰ गा॰ ५५०.

प्र० ८. पं० ७. 'मनोमात्र' -विशेषा॰ बृ॰ गा॰ ८९०.

पृ० ८. पं० ८. 'बाह्यानर्थान्'-"तेन द्रव्यमनसा भकाशितान् वाश्वाश्चितनीयघटादी-ननुमानेन जानाति, यत एव तत्परिणतानि एतानि मनोद्रव्याणि तस्मादेवंबिधेनेह चिन्तनीय-वस्तुना भाव्यम् इत्येवं चिन्तनीयवस्तृनि जानाति न साक्षादित्यर्थः । चिन्तको हि मूर्तनमूर्तं च 10 वस्तु चिन्तयेत् । न च छचस्थोऽमूर्तं साक्षात् पदयति । ततो ज्ञायते अनुमानादेव चिन्तनीयं वस्त्वयगच्छति । विविधान कृत्यार ८९४.

पु० ८. पं० १५. 'निविलडच्य' - विशेषा० वृ० गा० ८२३.

पृ० ८. पं० २२. 'कवलमोजिनः कैवल्यम्'--

"जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारविजयं विमर्ल। सिंहा(घा)णखेलसेओ णत्थि दुगेछा य दोसो य ॥" बोधप्रास्त-३०.

"कवलाभ्यवहारजीविनः केबलिनः इत्येवमादिवचनं केबलिनामवर्णवादः।" सर्वार्थसि० ६.१३. राजवा०. ६. १३.

ए० ९. पं० १. न्याय-वैशेषिक-सार्क्य-योग-मीमांसा-बौद्धादिदर्शनानां स्मृतेप्रमालं जैनदर्शनस्य पुनस्तस्याः प्रमालमभिमतस् । अत एव प्रम्यकारेण अत्र स्मृत्यममालसम् 20 धनपरं विविधां युक्ति निरसितुकामेन पूर्वं चिन्तामणिकारोपन्यस्ता स्मृत्ययधार्थल्यस्मिर्थका युक्तिः समालोवधियुप्तप्रकान्ता 'अतीतत्तवांशे' इत्यादिना। चिन्तामणिकारो हि—''यद्वा स घटः इति स्मृतौ तत्ताविशिष्टस्य वर्षमानता भासते ।....तत्र विशेष्यस्य विशेष्यस्य वर्षमानत्वामावात् स्मृतिरयधार्थवं । प्रत्यक्षचि ० ए० ८४५ ] इत्यादिना मन्येन 'स घटोऽस्ति' इत्यादिस्मृतौ तद्देशकालवर्षित्वरूपताविशिष्टे विशेष्यम्ते घटे तद्देशकालवर्षित्वरूपते तत्ता- 25 विशेष्यपते व वर्तमानकालीनास्तित्वावगाहितया तत्र च तथासूते विशिष्टे विशेषणे वा वर्तमानकालीनास्तित्वरूप वाष्टितस्तिवस्य वाषाद् स्मृतेरस्यार्थेलं दिशितवान् ।

ग्रन्थकारस्तु चिन्तामणिकाराङ्गीकृतं विशेषणे विशेष्यकालभानमियमं सार्वविकत्वेन अन-म्युपगम्य तित्रयमबलेन चिन्तामणिकारसमर्थितं स्मृत्ययथार्थत्वमपाकरेति 'सर्वत्र विशेषणे विशे-प्यकालमानानियमात्' इत्यादिना । तथा च मन्यकारमते 'स घटः' इत्यादौ अतीतत्त्वाशे 30 पर्वमानकालवर्तितस्य मानामावात् एकस्मिनेव घटात्मके धर्मिणि अतीतत्त्वायाः वर्षमानकाल- वर्तित्वस्य च स्वातन्त्र्यणैव मानात् न स्वतेरम्बार्षत्वस् इति भावः । अत्रेदमाकृतस्— श्वैत्रो भनवान् वर्तते' इत्वादिरमळीयशान्द्रवोधे चैत्राधिकरणकाळवर्तित्वस्य धनारो, 'शुक्राना-होरते' इत्यादिरमळीयशान्द्रवोधे च भोजनाधिकरणकाळवर्तित्वस्य ध्यमारो भासमानतस्य कवित् विभेषारे उद्देश्यतमानकाळीनत्वस्य कविष्य उद्देश्यतावच्छेदकसमानकाळीनत्वस्य मानमिति सार्वत्रिको नियमः चिन्तामणिकारस्याभियेतः । परन्तु 'ब्राह्मणः श्रमणः' इत्यादि-स्थळीयशान्द्रवोधे ब्राह्मणत्वारो श्रमणाधिकरणवर्तमानकाळवर्तित्वस्य श्रमणत्वाधिकरणतत्काळ-वर्तित्वस्य वा भानाभावान् नोक्कनियमस्य सार्वत्रिकत्वं किन्तु प्रामाणिकप्रतीतिवळात् यत्र यत्र विभेषारे उद्देश्यकाळीनत्वं उद्देश्यतावच्छेदककाळीनत्वं वा भासते तत्र तत्रैव उक्तनियमस्य प्रसरो न तु सर्वत्र इति प्रन्यकाराभिप्रायः ।

10 पृ० ९. पं० २. अन्यदीयमात्वनिरदेशत्वे सत्येव प्रमात्वस्य प्रमाव्ययहारम्योजकत्या स्मृतेर्येषार्थत्वेऽपि अनुभवप्रमात्वाधीनपमात्वशान्तित्या न प्रमात्वमिति उदयनाचार्योदिमिस्स-मर्थितं (न्यायङ०४.) स्मृत्यप्रमात्वं आश्चक्कते 'अनुभवप्रमात्वपारत-त्र्यात्वे इत्यादिना ।

प्र॰ ९. पं॰ ३. प्रतिबन्या अनुमितेरप्रमात्वापादनेन निराकरोति 'अनुमितेरपि' इत्यादिना ।

पूर ९. पंर ७. अनुमित्याः स्मृतेर्वेङक्षण्यशुपशद्यितुमाह—'नैयन्येन' इति । तथा च 15 अनुमितिकारणीमृते ज्याप्तिज्ञाने हेतुज्ञाने वा यः पक्षतायच्छेदकरूपो वा तद्यापकसाध्यप्रति-योगिकसंसर्गरूपो वा अर्थः अवस्थंतया न भासते सोऽपि अनुमितेर्विषय इति तस्याः स्विव-षयपरिच्छेदे स्वातन्त्र्यमिति पूर्वेपक्षार्थः।

पृ० ९. पं० ८. तुरुययुक्त्या समाभते-'तिहैं' इत्यादिना । तथा च पूर्व अनुभवेन विषयीकृतस्यापि अर्थस्य तचया अनवगाहनात् स्ष्टत्या च अनुभृतस्याऽपि तस्येव अर्थस्य तचया 20 अवगाहनात् तस्या अपि अनुमितिवत् विषयपरिच्छेदे स्वातन्त्र्यमवाधितमेव इति भावः ।

ष्ट्र० ९. पं० १८. प्रामाकरा हि सर्वस्थाऽपि ज्ञानस्य यथार्थत्वं मन्यमानाः 'शुक्तौ इदं रजत-म्' इत्यादिपसिद्धभ्रमस्थलेऽपि स्मृतिभत्यक्षरूपे द्वे ज्ञाने तयोश्य विवेकारूयातिपरपर्यायं मेदाझंह करूपित्वा सर्वज्ञानयथार्थत्वगोचरं स्वकीयं सिद्धान्तं समर्थयमानाः शुक्ययुक्त्या प्रत्यभिज्ञास्थ-लेऽपि अमृहीतभेदं स्मृतिभत्यक्षरूपं झानद्वयमेव करूपयन्ति इति तेषामपि करूपना अत्र निरास्य-25 त्वेन 'अत्र एव' इत्यादिना निर्दिष्टा।

पृ० ९. पं० १९. यदि च सर्वज्ञानयश्राधत्वासद्धान्तानुरोधेन भ्रमस्थले प्रत्यभिज्ञास्थले च ज्ञानद्वयमेव अन्युरगम्यते न किश्चिदेक ज्ञानम्, तदा विशिष्टज्ञानस्यापि अनङ्गीकार एव श्रेयाद्, सर्वस्यापि हि विशिष्टज्ञानस्य विशेष्यज्ञान-विशेषणज्ञानोभयपूर्वकत्वनिवसेन अवश्यवरुप्ततदुभय-ज्ञानेनेव अगृरीतभेदमहिम्ना विशिष्टबुद्युपपादने तदुभयज्ञानस्यतिरिक्तस्य तदुरुपकाञ्चतिंनो 30 विशिष्टशानस्य कस्यने गौरवात् इत्यभिग्नायेण प्रामाकस्मतं दूषयति—'इत्यं सर्ति' इत्यादिना ।

पृ० ९. पं० २०. प्रत्यिज्ञानस्य शत्यक्षत्वमेव न तु तव्यतिरिक्तज्ञानस्वमिति नैयायिक-मतमाशक्कते 'तथापि अक्षान्वय' इत्यादिना ।

25

- पु० ९. प० २१. प्रत्यभिज्ञानस्य इन्द्रियसम्बन्धपश्चाद्वाबिलेऽपि न साक्षात् तस्यम्नन्धा-न्वयन्धतिरेकानुविधानं किन्तु साक्षात् प्रत्यक्षस्मरणान्वयन्यतिरेकानुविधानमेव इति प्रत्यभिज्ञानो-त्यचौ प्रत्यक्षस्मरणाभ्यां इन्द्रियसंसर्गस्य न्वयदितत्वात् साक्षात् तज्जन्यत्वाभावेन प्रत्यभिज्ञानस्य न प्रत्यक्षत्व करुगनाईमित्यभिप्रायेण दूषयति 'तृष्क' इत्यादिना ।
- पृ० ९. पं० २६. 'अनुमानस्यापि'—अयं भावः—यदि स्पृतिमपेक्ष्य चक्कुरादिबहिरि- 5 िन्द्रयं 'स एवायं घटः' इत्यादिरूपं अत्यक्षजातीयमेव प्रत्यभिज्ञानं जनयेत् तदा तुरूययुक्त्या व्यासिस्पृत्यादिसापेक्षमेव अन्तरिन्द्रयं पक्षे साध्यवत्ताज्ञानं मत्यक्षजातीयमेव जनयेत् , तथा च प्रत्यभिज्ञानवत् अनुमितेरिषे भत्यक्षजातीयतामसञ्जनेव सिद्धान्तसम्मतस्य अनुमानममाणपार्थ-क्यस्य विच्छेद्रापतिः ।
- प्र॰ ९. पं॰ २७. 'स एवायं घटः' इत्यादौ विशेष्यीभूतघटारो चक्षुरादीन्द्रियसिन 10 कर्षसस्यात् तत्त्रारूपविशेषणविषयकस्यृतिरूपझानकरेन प्रत्यक्षित्रानं विशिष्टविषयकमेव प्रत्यक्ष-जातीयं भविद्यमर्हतीति नैयायिकविशेषमतमाश्रद्ध्य निराकरोति 'धरोत' इत्यादिना ।
- पृ० ९. पं० २९. 'प्तत्सह्य'-'स एवायं घटः' इत्यादौ विशेष्याशे इन्द्रियसन्नि-कर्षसन्त्रेशि यत्र न पुरोबर्षिनो विशेष्यत्वं यथा 'प्तत् सह्यः' इत्यादिस्यले किन्तु तस्य विशेषणत्वं तत्र विशेष्येन्द्रियसन्निकप्रीमावेन विशेषणज्ञानसहक्कृतविशेष्येन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्व- 15 स्यापि दण्करूपत्वात् न विशिष्टप्रत्यक्षजातीयत्वं समन्तितमिति भावः ।
- पृ० १०. पं० १. नतु बल्हामत्यक्षमाणान्वर्गतत्वेन प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्यमभ्युपगच्छ-न्तोऽपि भीमांसकःनैयायिकादयः स्थेर्यरूपमेकत्वमेव तस्याः विषयत्वेन मन्यन्ते न पुनर्जेना इव साददय-वैसदृदय-दूरत्व-समीपत्व-हृस्वत्व-दीर्घत्वादिकमपि । ते हि साददयादिप्रमेषप्रतिप-त्त्यश्चेपुपमानादिप्रमाणान्वरमेव प्रत्यभिज्ञाविकक्षणं कस्पयन्ति इति एकत्ववत् साददयवैसदृदयादेपि 20 प्रत्यभिज्ञाविषयत्वसमर्थनेन तेषां मतमपासितुं प्रन्यकारः पूर्वं माङ्गपकं उपन्यस्यति 'नसु' इत्यादिना ।
- पृ० १०. पं० ११. नैयायिकास्तु मीमांसक्वत् नोपमानस्य प्रमेयं साइदयादिकं मन्यन्ते किन्तु सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धस्यमेव प्रमेयं तद्विषयत्वेन करूपयन्ति इति सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसंबन्धस्यापि प्रत्यभिज्ञाविषयत्वसमर्थनेन नैयायिकास्युपगतं उपमानस्य प्रमाणान्वत्त्वं निरसितुं तन्मतस्रुप-न्यस्यति 'एतेव' इत्यादिना ।
- पृ० १०. पं० २०. 'आसाम्'-सूक्ष्मत्व-स्यूङत्व-दूरत्व-समीपत्वादिगोचराणां सङ्कट-नारिमङानां सर्वासां प्रतीतीनामित्यर्थः।
- पृ० १०, पं० २५. 'स्वरूपप्रयुक्ता' न्सामाविकाऽव्यमिचारक्रमं व्याप्तिरित्ययः। तच्छू-न्याप्तृत्वित्वक्षोऽव्यभिचारो द्विविषः अनौपाधिकः औपाधिकश्च । धूने विद्वयुन्याप्तृत्तित्वस्य उपाध्यक्कतत्वेत अनौपाधिकत्वात् स्वामाविकत्वम् । वद्वौ तु धूमशून्यापृत्तित्वस्य आर्देन्धत- 30 संयोगरूपोपाधिकृतत्वेन औपाधिकत्वात् न स्वामाविकत्वम् इति बोध्यम् । स्वामाविकाव्यभिचार-रुक्षणेव व्याप्तिरनुमित्यौपयिकीत्यभिमावेण उक्तम् 'स्वरूपप्रयुक्ताच्यभिचाररुश्चणायाम्' इत्यादि ।

पृ० १०. पं० २९. ननु मा भूत् अन्यभिचारळक्षणा व्याप्तिरयोग्यत्वात् प्रत्यक्षस्य विषयः
किन्तु सामानाधिकरण्यरूपायाः व्याप्तेत्तु योग्यत्वात् प्रत्यक्षविषयत्वं सुशक्तमेव । सामानाधिकरण्यं व्यक्तिविश्रान्ततया तचद्वचिक्तयोग्यत्वे प्रत्यक्षयोग्यमेव इति तचद्वचिक्तदे तत्सामानाधिकरण्यस्यापि सुग्रहत्वन् । सकळसाच्यसाधनोपसंहारेण सामानाधिकरण्यज्ञानस्य ळीकिकसिक5 कर्षजन्यत्वासम्भवेऽपि सामान्यरुक्षणाऽळीकिकसिकिकर्षद्वारा सुसम्भवत्वात् तादशञ्याप्तिज्ञानार्थं
न प्रमाणान्तरकच्यनस्वितिसत्याशयेन नैयायिकः शक्ते 'अय' इत्यादिता ।

पृ० ११. पं० २. 'प्रमाणाभावात्'-त्यायनथेऽपि सामान्यरुक्षणप्रत्यासचिस्वीकारे नैकमत्यम् । तस्याः चिन्तामणिकृता सामान्यरुक्षणाप्रत्ये समर्थितायाः दीधितिकृता तत्रैव निष्ययोजन्त्वोपपादनेन निरस्तवात ।

10 पृ० ११. पं० २. 'ऊई विना'-ज्ञायमानसामान्यं सामान्यज्ञानं वा सामान्यञ्ज्ञला प्रत्यासक्तिः । तथा च सामान्यमपि सक्डव्यक्त्युपस्थापकं तदैव स्यात् यदा व्यक्तिसाकस्याविमा अनुपपयमानतया तन् ज्ञायेत । तथा च सक्डव्यक्त्युपस्थितये सामान्ये व्यक्तिसाकस्यान्यथानुपपयमानताज्ञानमावस्यकम् । सामान्यनिष्ठा लाहस्यनुपपयमानता च व्यक्तिसाकस्यान्यपाक्तमा । सा च 'यदि सामान्यं व्यक्तिसाकस्यान्यपामान्यां तदा सामान्यमेव न विकार्यः द्वारिक्ता । सा च 'यदि सामान्यं व्यक्तिसाकस्यान्यपामान्यानार्थम् ज्ञहस्य सामान्यन्य स्थाप्ये द्वार्यः विना दुर्ज्ञानेति सक्वव्यक्त्यस्थापनोपयोगिसामान्यज्ञानार्थम् ज्ञहस्य सामान्य- अक्षणापश्चेऽपि अवस्थस्वीकार्यत्वात् तेनैव सर्वत्र व्यक्तिश्चानस्य सामान्यन्य स्थाप्यान्यस्य सामान्यन्य स्थापाप्यान्यस्य सामान्यन्य सामान्यन्य सामान्यन्य स्थापाप्यान्यस्य सामान्यन्य सामान्यन्य सामान्यन्य सामान्यन्य स्थापाप्यान्यस्य सामान्यन्यस्य सामान्यन्य सामान्यन्यस्य सामान्यन्यस्य सामान्यन्यस्य सामान्यन्यस्य सामान्यन्यस्य सामान्यन्यस्य सामान्यन्यस्य सामान्यन्यस्य सामान्यस्य सामान्य

पृ० ११. पं० ८. 'नानवस्था'-निरस्तक्षक्रव्यक्षित्रानजननाय अन्तरीदीयमानां व्यभि-चारशक्कां निरसित्तं अनिष्ठायदनं आवश्यकम् । तश्च न व्यक्षित्रानं विना सम्भवति इति व्यक्षित्रानेऽपि व्यक्षित्रानान्तरापेक्षा, तत्रापि तदन्तरापेक्षा एवं क्रमेण एकस्मिन्नेव व्यक्षित्राने 20 कर्तव्येऽनन्तानन्तव्यक्षित्रानानामपेक्षणीयतया अनवस्था समापतित इति तन्नितसः योग्यतायरुत् प्रन्थकृता दक्षितः ।

पृ० ११. पं० ९. निर्विकल्पस्येव शुरूवं प्रामाण्यं स्वीकुवेतां बौद्धानां मते विचारा-स्मकस्य तर्कस्य विकल्परूपत्वेन प्रामाण्यं न सम्भवति इति तेषां मतमाश्रद्धते 'श्रत्यश्च-पृष्ठभाविविकल्प' इत्यादिना ।

25 पृ० ११. पं० ९. 'तन्त्र' इत्यादिना विकल्प्य दूषयति । तथाहि—नतु कि तर्कस्य विकल्प- रूपतया अन्नामाण्यं मत्यक्षप्रक्रावित्वेन तद्गृहीतमानमाहित्वकृतम्, आहोस्वित् तत्प्रक्षमावित्वेन तद्गृहीतमानमाहित्वेन त्वेऽिय तदगृहीतसानान्यग्राहित्वकृतम् । तत्र नाथः, प्रत्यक्षगृहीतस्वरुक्षणसात्रमाहित्वेन विकल्पस्य अन्नामाण्यअपि तस्य सक्कोपसंहारेण व्याप्त्यनवगाहितया अस्मद्रस्युवगततर्कश्रामाण्यक्षतेरामाना् । न द्वितीयः, प्रत्यक्षागृहीतसामान्यविषयकत्वेऽिय प्रत्यक्षप्रक्षमाविनो विकल्पस्य अनुमानवत् प्रामाण्य वाचामावात् । बौद्धा अपि अवस्तुभृतसामान्यमासकत्वेन अनुमितेः प्रत्यक्षवत् साक्षात्ववरुक्षणात्मकृत्रमा अन्यस्यक्षवत् साक्षात्ववरुक्षणात्मकृत्रमा अन्यस्यक्षवत् साक्षात्ववरुक्षणात्मकृत्रमा । विद्याः अतह्यावृत्तिक्षस्यसानान्यस्यना ज्ञावमानवित्रोवप्रतिवद्धस्वरुक्षणात्मकृत्रम् व्यवस्य 'प्रतिवद्धस्वमावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयस्'

इरबादिना प्रामार्ग्य समर्थयन्ते । समर्थयन्ते च ते पुनः दृश्यपाप्ययोरैक्याध्यक्षायेन अविसंवाद-बळात् प्रत्यक्षस्य इव अनुमितेरिप प्राप्यानुमेययोरैक्याध्यक्षसायक्ष्पाविसंवादवळादेव प्रामाण्यम् । एतदेव च तस्याः व्यवहारतः प्रामाण्यं गीयते । तथा च यथा बौद्धमते अनुमानस्य प्रामाण्यं व्यवहारतो न विरुद्धं तथा अस्मन्मते तर्कप्रामाण्यमपि न विरोधास्यदमिति स्रावः ।

- पृ० ११. पं० ११. 'अवस्तु'-अनुमानस्य वस्तुमूतस्वरुक्षणविषयानवगाहित्वेऽपि इत्यर्थः । 5
- पू० ११. पं० १२. 'प्रम्परया'-अनुमीयमानविषयञ्चाप्तस्वरुक्षणात्मक्रीहक्तगन्यत्वात् इत्यर्थः।
- पृ० ११. पं० २०. तर्कस्य न स्वतः प्रामाण्यं किन्तु प्रमाणसङ्कारितया प्रमाणानुकुल-तया वा प्रमाणानुभाडकत्वमेव इति नैयायिकमतमुगन्यस्यति 'यन्तु' इत्यादिना ।
- पृ० ११. ५० २०. 'आहार्यप्रसञ्जनम्'-बाधिनश्चयकाळीनेच्छाजन्य प्रस्यक्षं ज्ञानमा- 10 हार्यज्ञानम्। पर्वते पूमं स्वीकृत्य बिद्धमाश्चमानं प्रति यत् 'यदि बिद्धनं स्थात् तिर्द्ध अत्र पूमोऽपि न स्थात्' इत्यनिष्टापादनम्, तत् व्याप्यस्य आहार्यारोपेण व्यापकस्य आहार्यप्रसञ्जनम्, तत्र बद्ध-भावस्य व्याप्यत्वात् धूमाभावस्य च व्यापकत्वात् । धूमाभावाभावक्तप्रयूपवचया निर्णति पर्वते वद्ध्यभावक्तपव्याप्यारोपेण धूमाभावस्यव्यापकापादनस्य आहार्यश्चानरूपत्वं द्धस्यष्टमेव ।
- पृ० ११. पं० २०. 'विशेषदर्शनवद्'-यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वा इत्यादिसंशयदशायां 15 एकतरकोटिक्याप्यवचारूपविशेषदर्शनम् एकतरकोटिक्याप्यवचारूपविशेषदर्शनम् एकतरकोटिक्यियके निर्णये जननीये इन्द्रियं सहकरोति, यथा वा तत् अपरकोटिनियरकमात्रं तथा तर्कोऽपि प्रमाणं सहकरिष्यति विरोधिशक्कामात्रं वा निवर्त्य प्रमाणानुकुछो सविष्यति इत्थर्थः।
- प्र० ११. पं० २१. 'विरोधिश्रङ्का' नर्कस्य प्रमाणानुमाहकःतं द्वेषा सम्भवति विरोधिशङ्काक्षालेनप्रमाणकार्यकारित्वर्षस्यक्कारित्वर्षस्यकारितं प्रमाणकार्यकारितियः द्वाराणन्य प्रमाणकार्यकारित्वर्षस्यकारित्वर्षः द्विरोधिशङ्कानुस्यक्ष्यः द्विरीययकानुसर्गे कथवात् उक्तम् 'विरोधिशङ्कानित्वर्षकृत्ये द्वारादि । सहकारित्वं हि एक्षध्माविष्टक्षकार्यतानिक्षित्रकारणतावस्त्यम् यथा न्दण्डस्य कुम्भ-कारसहकारित्वर् , तदसमवधान्ययुक्तकलोपभायकत्वाभाववत् तकःत्वं वा यथा—उपेजकमण्यादेः विद्वसहकारित्वम् यथा वा अदृष्टस्य कुम्भकारादिसहकारित्वम् । द्विविषस्यापि प्रमाणसहकारित्वर् स्य तर्के कृत्यनमपेक्ष्य विरोधिशङ्कानिवर्षकत्वमात्रकृत्यने लाधवात् ।
- पृ० ११. पं० २३. 'क्राचिदेतत्ं —'यत्र व्याप्तिमहानन्तरं 'पक्षे हेतुरस्तु साध्यं मास्तु' इति व्याभिचारशङ्का समुख्येत् तत्र 'वादि पर्वते बिहुने स्यात् तदा धूमोऽपि न स्यात्' इति व्याप्यारोपाहितस्य व्यापकारोपस्य नैयायिकाभिमतस्य तर्कस्य पूमाभावाभाववत्त्या बह्यभावा-माववत्त्स्यविद्यायात्रेत्रस्याभावप्यंत्रसायित्वेन आहार्यश्चक्षाविष्यक्रतया व्याप्तिनिर्णय एव उपयोगः । यत्र पुनर्व्याप्तिविचारो न प्रस्तुतः न वा तादृशी आहार्यशङ्का तत्र विचारानङ्गत्वेपि 30 स्वातन्त्रयोणीव शङ्कामात्रविषयक्रतया तादृश्वस्य तर्कस्य उपयोगित्वस् इति भावः ।
  - पृ० ११. यं० २५. नैयायिकानुरोधेन यदि शक्कामात्रविधटकतया तर्कस्य उपयोगित्वं

जैनेनापि स्वीक्रियेत तर्हि धर्मसूषणेन न्यायदीपिकायां अज्ञाननिवर्तकतया समिवतं तर्कस्य प्रामाण्यं कुषं सङ्गमनीयमित्याशङ्कामपाकर्तमाह 'इत्यं च' इति । तथा च अज्ञानपदस्य तत्र मिध्याज्ञान-पुरत्वेन मिथ्याज्ञानमिवर्तकरवं तर्कस्य तत्र धर्मभूषणाभिष्ठेतत्वेन बोडव्यम् इति न कश्चिटिरोधः ।

- go ११. पंo २६. नन् यदि व्याप्तिविषयकसंशयात्मकमिथ्याज्ञाननिवर्चकतया तर्कस्य 5 प्रामाण्यं समध्यते तर्हि प्रमाणसामान्यफळतया ज्ञानामावरूपाऽज्ञानिवृत्तिः जैनाभिपेता तर्क-प्रमाणफलस्त्रेन कथं निर्वहेत् इत्याशक्कायामाह-'क्कानाभावनित्रतिः' इत्यादि । तथा च जैनमते ज्ञानमात्रस्य स्वप्रकाशतया तर्कस्यापि स्वप्रकाशत्वेन स्वव्यवसितिपर्यवसायित्वम् । स्वव्यवसितेश्च विषयज्यवसितिगर्भिततया बाह्यविषयज्ञातताज्यवहारप्रयोजकःवेन विषयाज्ञाननिविचिरूपत्विमिति बस्ततः स्वव्यवसितेरेव ज्ञानाभावनिवृत्तिस्पतया न तर्कस्यापि अज्ञाननिवृत्तिरूपसामान्यफलानुपपत्तिः।
- प्र० १२. पं०४. अनुमितिनिरूपितकारणतायां पक्षद्वयं वर्तते-हेतुग्रहण-संबन्धस्मरणयोर्द्ध-10 योरेव समुदितयोः कारणत्विमिति एकः पक्षः, नोक्तयोर्द्वयोः कारणत्वं किन्तु तदद्वयजन्यस्य णकस्येव लिक्कपरामशैस्य अनुमितिकारणत्वमित्यपरः पक्षः । अत्र ग्रन्थकता प्रथमं पक्षमाश्चित्यो-कतम् 'सम्रदितयोः' इति ।
- प्र०१२. पं०२१. अन्तर्गितिरेव अनुमितिश्योजिका। अन्तर्गामी चावस्यमेव पक्ष-15 स्यान्तर्भावः । न्याप्तिज्ञानीया धर्मिविषयतेव अनुमितिधर्मिविषयतायां तन्त्रमिति हेत्तरुक्षणे पक्षधर्मत्वाऽप्रवेशेऽपि अन्तर्ज्याप्तिज्ञानवलादेव तज्जन्यान्तितौ पक्षस्येव धर्मितया भानं न पनस्त्य-थानुपपत्त्यवच्छेदकतया हेतुमहणाधिकरणतया वा तस्य भानमित्यभिप्रायेण प्रमाणनयतस्वाली-कीयं अन्तर्व्याप्तिबहिर्व्याप्तिलक्षणपरं सूत्रं अवलम्बय कस्यचिदेकदेशिनो मतमपन्यस्यति-'यस' इत्यादिना ।
- प्र०१२. पं०२३. न पक्षान्तर्भोवानन्तर्भावकृतोऽन्तर्ज्याप्तिबहिर्ज्याप्त्योभेदः किन्तु स्वरू-20 यत एव तयोभेदः, अन्तर्वाप्तेः साध्यश्चन्यावृत्तित्वरूपस्त्रातः बहिर्व्याप्तेश्च साध्याधिकरणवृत्तित्व-रूपत्वात । तथा च अनुमितिप्रयोजकान्तर्ज्यासौ पक्षस्याघटकतया न तद्भानवलाद अनुमिति-विषयता तत्र पक्षे निर्वाहियतं शक्येति अनुमितौ तद्वाननिर्वाहाय अस्मदक्तेव क्वचिदन्यथा-नपपत्त्यवच्छेदकतया इत्यादिरीतिरनुसरणीया । यदि च अन्तर्ज्याप्तौ नियमतः पक्षभानं स्यात् 25 तदा अन्तर्ज्याप्तिमह एव पक्षसाध्यसंसर्गस्य मासितत्वात् कि प्रथगनुमित्या ?, इत्याशयेन पूर्वोक्तं एकदेशिमतं निराकरोति 'तुक' इत्यादिना ।
- पृ० १४ पं० २७. 'ननु विकल्पसिद्धो धर्मी नास्ति' इत्यादिवचनस्य उपपत्त्यसंभवप्रति-पादनेन विकस्पसिद्धधर्म्यनङ्गीकारवतो नैयायिकान्मति यत् मौनापत्तिरूपं दूषणं दत्तं तत् जैनमतेऽपि समानम् : तत्रापि हि 'असतो नत्यि निसेहो' इति भाष्यानुरोधेन असत्स्यात्यनभ्युपगमात् अमावांशे 30 असतः प्रतियोगिनो विशेषणतया भानाऽसंभवात् 'शश्रृष्यं नास्ति' इत्यादितः विशिष्टविषयक-शाब्दबोधानुपपत्त्या तादशवचनव्यवहारस्य असम्भवात् इत्याश्रङ्कां निराकर्षु तादशस्थले शाब्द-

4

बोघोपपादनाय अनुमित्युपपादनाय च प्रन्थकारस्त्वामिपेतां प्रक्रियामादर्शयति 'इदं त्ववघेयम्' इत्यादिना ।

अयं भावः-विकल्पसिद्धधर्मिस्थलीये शाब्दबोधे अनुमितौ वा विकल्पसिद्धस्य धर्मिणी भाने त्रय एव पक्षाः सम्भवन्ति, तथाहि-तस्य अखण्डस्यीव वा मानम् . विशिष्ठस्यतया वा. स्वण्डक: प्रसिद्धतया वा । तत्र स्वसिद्धान्तविरोधितया प्रथमपक्षी नाङ्गीकर्त शक्यते । जैनसिद्धान्ते 5 हि सर्वत्रापि जाने सत एव भानाभ्यपग्रमेन असतो भानस्य सर्वथा अनुभिमतत्वात । विकल्प-सिद्धधर्मिणः प्रमाणासिद्धत्वेन अखण्डस्यासस्वात अखण्ड-तद्भानाभ्यपगमे असद्भानस्यावर्जनीयत्व-मेव । दितीयपक्षस्त कथश्चिदभ्यपगर्मार्हः । यत्र स्थले 'शशश्चकं नास्ति' इत्यादौ 'श्वकं शशीयं न वा' इत्यादिन संजय:. न वा 'श्रक्रं ज्ञातीयं न' इति बाधनिश्चयस्तत्र अभावांजे ज्ञाजीयत्वविज्ञेषण-विशिष्टस्य शक्कस्य भाने बाधकाभावात । यत्र च स्थले तादृशः विशेषणसंशयः तादृशो 10 विशेषणबाधनिश्चयो वा तत्र विशिष्टमानासम्भवेऽपि 'श्रुक्ते सशीयत्वज्ञानं जायताम' इतीच्छा-जनितं बाधनिश्चयकालीनमाहार्यज्ञानं सम्भवत्येव । तथा च 'शशशृङ्गं नास्ति' इत्यादिशाब्दबोधे 'एतत् स्थानं शश्रृष्ट्रकाभाववत्' इत्याद्यनमितौ वा अभावांशे प्रतियोगितया भासमाने शक्रांशे शशीयत्वविशेषणस्य आहार्यभानोपपस्या प्रतिवादिपरिकस्पितविपरीतारोपनिराकरणाय ताहशस्य शब्दस्य ताहरूया वा अनुमितेः सुसम्भवत्वमेव । इत्यं च द्वितीयपक्षस्य उपपाद्यत्वेऽपि तत्र 15 अनमितेराहार्यात्मकत्वं एकदेशीयाभिमतमेव करूपनीयमिति तत्पक्षपरित्यागेन सर्वथा निर्दोष-स्ततीयपक्ष एव आश्रयितमुचित इति मत्वा ग्रन्थकारेण 'वस्ततः' [ ४० १५. पं॰ ४. ] इत्या-दिना अन्ते खण्डशः प्रसिद्धपदार्थभानगोचरस्ततीयपक्ष एव समाश्रितः । तथा च 'शश्रश्रकं नास्ति' इत्यादौ अभावांशे नाखण्डस्यासतः शश्रश्रहस्य भानम्, न वा शशीयत्ववैशिष्टयस्य आहार्यभानं किन्त प्रसिद्ध एव श्रकांशे प्रसिद्धस्यैव शशीयत्वस्य अभावो भासते। तथा च 'एका- 20 न्तनित्यं अर्थिकयासमर्थं न भवति, कमयौगपद्याभावातं इत्यादिहृद्यायां जैनस्थापनायां एकान्त-नित्यस्य जैनमते सर्वधाऽसम्भवेऽपि ताह्यस्थले अनित्यत्वासमानाधिकरणरूपनित्यत्वस्य खण्डजः प्रसिद्धतया सण्डराः प्रसिद्धतादशपक्षविषयायाः अर्थक्रियासामध्यीभावसाध्यकायाः क्रमयौग-पद्यनिरूपकत्वाभावहेतुकायाः 'एकान्तनित्यत्वं अर्थकियासामर्थ्यानियामकं क्रमयौगपद्यनिरूपक-त्वाभावात' इत्याकारिकायाः अनमितेर्निर्वाधसम्भवेन न ताहशी जैनस्थापना विरुध्यते । 25

ए० १४. पं० २९. 'शब्दादेः' –शब्दात्, 'आदि'पदेन व्याप्तिज्ञानादेः परिष्रहात् व्याप्ति-ज्ञानादेस्सकाशादित्यर्थः ।

पृ० १५. पं० १. 'विकल्पारिमकैव' - अनुमितेः शब्दशानानुपातित्वानियमेन शब्दशानानुपातिविकरूपरूपत्वामावेऽपि वस्तुशून्यविकल्पसद्दशतया विकल्पारिमकैत्युक्तम् । तथा च वि-कल्पाकारबृचिसदशी ह्त्यथैः । 30

पृ० १५. पं० ७. 'विशेषावमश्चेदञ्चायाम्'—अर्थकिसासामध्योभावरूपसाध्यव्याप्यीभूतकम-यौगप**या**भावरूपविशेषभीनिर्णयरूपपरामशेदञ्चायामित्वर्थः ।

प्र० १५, पं० ८, 'नित्यत्वादौ'-कटस्थनित्यत्वस्य जैनमतेऽप्रसिद्धत्वेऽपि अनित्यत्वसमाना-धिकरणानित्यत्वरूपस्य कथ्रिक्षित्रित्यत्वस्य प्रसिद्धतया ताहरो नित्यत्वे अनित्यत्वसामानाधिकरण्या-भावाऽबच्छेदेन उक्ताभावः सखेन साधियतं शक्य इत्यर्थः ।

प०१५. पं०१६. 'समर्थन'-"त्रिविधमेव हि लिक्समत्यक्षस्य सिद्धेरक्रम्-स्यभावः कार्य-5 मनपरम्भक्ष । तस्य समर्थनं साध्येन व्याप्ति प्रसाध्य धर्मिणि भावसाधनम् । यथा यत् सत् कृतकं वा तत् सर्वमनित्यं यथा घटादिः सन्कृतको वा शब्द इति । अत्रापि न कश्चित्कमनियमः इष्टार्थ-सिद्धेरुभयत्राविशेषात् । धर्मिणि प्राक् सत्त्वं प्रसाध्य पश्चादपि व्याप्तिः प्रसाध्यत एव यथा सन शब्द: कतको वा. यश्चैवं स सर्वोऽनित्य: यथा घटादिस्ति ।"-वादन्याय पृ० ३-६,

पृ० १५. पं० २१. यद्यपि वादिपतिवाद्यभयसम्प्रतिपन्नमेव साधनं वादभूमिकायामुपयुज्यते 10 इति सर्वसम्मता वादमर्यादा, तथापि कश्चित् साङ्ख्यप्रख्यः स्वसिद्धान्तं स्थापयितं स्वानभिमतमपि किञ्चित साधनं प्रतिवादीष्टल्यमात्रेण बादकाल एव प्रयोक्तमिच्छन्नेव तां सर्वसम्मतवादमर्यादास्ति-कम्य स्वाभिप्रायानुकरुमेव परार्थानुमानीयं यत् रुक्षणान्तरं प्रणीतवान् तदेवात्र प्रनथकारः स्याद्वादरत्नाकर [पृ॰ ५५१] दिशा निरसितुं निर्दिशति 'आगमात् परेणैव' इत्यादिना । 'आगमात'-आगमानसारेण, 'परेणेव'-प्रतिवादिनैव, 'ज्ञातस्य'-सम्मतस्य, 'वचनम्'-साधनतया वादकाले 15 बादिना प्रयोग इत्यर्थः । तथा च वादिना प्रतिवादिनि स्वसिद्धान्तप्रत्यायनं साधनसिद्ध्या सम्पा-दनीयम । सा च साध्यसिद्धियीदे केवलप्रतिवादिन्यपि स्यात् तावतैव वादी कृतार्थी भवेत इति किम् उभयसिद्धसाधनगवेषणभयासेन १, इति परार्थानुमानीयरुक्षणान्तरकारिणः पूर्वपक्षिणः आञ्चाः।

पृ० १५. पं० २३. प्रामिर्दिष्टं लक्षणान्तरं निराकरोति 'तदेतदपेशलम्' इत्यादिना । अत्रायं भावः - वादिप्रतिवाद्यभयसिद्धस्यैव साधनस्य परार्थानुमानोपयोगितया न वादिप्रतिवाद्येकतर-20 सिद्धसाधनेन अनुमानप्रवृत्तिरुचिता । तथा च साधनसिद्धये समाश्रीयमाणः आगमोऽपि वादि-प्रतिवाद्यभयसम्प्रतिपन्नप्रामाण्यक एव परार्थानमानोपजीव्यः, न त तदन्यतरमात्रसम्भतप्रामाण्यकः । एवं च न प्रतिवादिमात्राभ्युपगतप्रामाण्यकेन आगमेन साधनमुपन्यस्य अनुमानप्रवर्तनं वादिनो न्याय्यम् । वादी हि प्रतिवाद्यागमं तेन परीक्ष्य स्वीकृतं अपरीक्ष्य वा स्वीकृतं मत्वा तमागममाश्रय-ननुमानावसरे साधनसुपन्यस्थेत ?। न प्रथमः पक्षः, वादिनापि तदागमग्रामाण्यस्य स्वीकरणीयत्वा-25 पत्तेः । न हि परीक्षितं केनापि प्रामाणिकेन उपेक्षितुं शक्यम् । तथा च प्रतिवाद्यागमानुसारेणैव साधनवत् साध्यकोटेरपि वादिना अवस्थाङ्गीकार्यत्वेन तद्विरुद्धसाधनाय अनुमानोपन्यासस्य वैयर्थ्यात् आगमनाधितत्वाच । न द्वितीयः, अपरीक्ष्याभ्युपगतस्य प्रामाण्यस्य प्रतिवादिनोऽपि शिथिलमूलतया सन्दिग्धतया च सन्दिग्धप्रामाण्यकतादृशप्रतिवाद्यागमानुसारेण असन्दिग्धसाधनो-पन्यासस्य वादिना कर्तमशक्यत्वात ।

पृ० १५. पं० २३. 'अन्यथा'-विमतिपन्नमामाण्यकागमाश्रयेण साधनोपन्यासे इत्यर्थः । 30 'तत एव'-प्रतिवादिमात्रसम्मतादेव, तदीयादागमात् साध्यसिद्धियसङ्गात्-प्रतिवादिनि स्वकोटेः

ŧ

स्वागमेनैव निश्चितलात् वादिकोटेख तेनैव आगमेन वाधितलात् संशयरूपपश्चतायाः अभावेन तत्र नातुमितिसम्भव इत्यर्थः।

पृ० १५. पं० २४. ननु अनुमानोचरकालं तु प्रतिवादिना परीक्ष्य आगमः स्वीकरिच्यते अनुमानकालं पुनः परम्परायातेन अभिनिवेशमात्रेण तेन स्वीकृत इति तदाश्रयेण साधनग्रुपन्य-स्वन् वादी कथमुपालम्भास्यदं भवेत् ?, इत्याशकायामाह 'परीक्षाकाले तद्वाधात्' इति । तथा 5 च अनुमानावसरे वादिविरोधं सहमानस्य मतिवादिनः स्वगमधामाण्यं न निश्चितं नाम । एवं च यथा मतिवादागमः वादिनोऽनिश्चितमामाण्यकस्त्या मतिवादिनोप्यनिश्चितमामाण्यक इति न तदाश्चयेण साधनीपन्यासः कामपि इष्टासिद्धं प्रणातीति भावः ।

पृ० १५. पं० २७. 'प्रसङ्गविषयेय'—''मसङ्गः सहस्वत्र व्यापकनिरुद्धोपळ्किक्सः। अ-नेकव्यक्तिवर्तित्वस्य हि व्यापकमनेकत्वम् , ऐकान्तिकैक्रस्पस्यानेकव्यक्तिवर्तित्विविरोधात् । अने- 10 कत्रश्चत्तेत्रत्वं व्यापकं तद्विरुद्धं च सर्वयेक्यं सामान्ये त्वयाऽम्युपगम्यते ततो नाऽनेकश्चतित्वं स्यात्, विरोध्येक्यसद्भावन व्याप्येन व्यापकस्यानेकत्वस्य निश्चत्या व्याप्यस्यानेकश्चतित्वस्याऽप्तस्यं निश्चः । न च तित्रश्चिरम्युपगतिति कञ्जावसरः असङ्गत्विषयेयास्यो विरुद्धव्याधोपळ्किस्त्रोऽत्र मौळो हेतुः। यथा यदनेकश्चति तदनेकस्य अनेकश्चति च सामान्यमिति । एकत्वस्य हि विरुद्धमनेकत्वं तेन व्याप्तमनेकश्चतित्वं तस्योपळ्किशितः । मौळत्वं चास्यैतद्येश्ययेव प्रसङ्गस्योपन्यासात् । न 15 चायमुमयोरि न सिद्धः। सामान्ये जैनसीमाम्या तदभ्युपगमात् । ततोऽयसेव मौळो हेतुरयमेव वस्त्तनिक्कायकः।''—स्या॰ र ९० ५५१-४.

पु० १५. पं० २७. 'अनेकड्चित्त्व' – अनेकड्चित्त्वस्य व्यापकं यदनेकःतं तस्य या सर्व-भैवयस्त्रीकारे सित निवृत्तिः तसैव व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यीमृतानेकड्चित्त्वनिवृत्तेः प्रसङ्गः 'यदि सामान्यं सर्वेथैकं स्यात् तदा अनेकड्चि न स्यात्' इत्यादिक्त्पो यः क्रियते स एव सामान्ये 20 ऽनेकत्वसाथके अनेकड्चित्वक्त्पे मौळहेती 'सामान्यमनेकड्चि भवतु मा मृदनेकम्' इत्येवंक्त्यायाः व्यभिचारशङ्कायाः निवर्तकत्वेन तर्कापर्यायः परिकरो अभिधीयते एताडशस्य प्रसङ्गाख्यपरि-करस्य व्यभिचारशङ्काविधृतनद्वारा मौळहेतुगतव्याष्टिसिद्धिपर्यवसायिनः उपन्यासस्य सर्वसम्मततया न्याय्यत्वमेव इति भावः।

पृ० १६. पं० १. "नन्वेवं प्रसङ्के उङ्गीकियमाणे बुद्धिरचेतना, उत्पचिमत्वादित्ययमपि साङ्ख्ये- 25 न ख्यापितः प्रसङ्कदेवं भेविष्यति । तथा हि यदि बुद्धिरूपिषमती भवद्धिरभ्युपगम्यते तदानी तद्यापकमचैतन्यमपि तस्याः स्याच चैवमतो नोत्पचिमत्यपीयम्" [स्या॰ र॰ पृ॰ ५५४.] इत्याशङ्कय समाधचे 'बुद्धिरचेतनेत्यादौ च' इत्यादिना ।

"असङ्गविपर्वयहेतोमींकस्य चैतन्यास्यस्य साक्स्यानां बुद्धाविप प्रतिषिद्धत्वात् चैतन्यस्वीकारे-ऽपि नाऽनयोः प्रसङ्ग-तद्विपर्वययोगीमकत्वं अनेन प्रसङ्गनात्र प्रसङ्गविपर्वयहेतोत्र्यीसिसिदि- 30 निवन्यनस्य विरुद्धपर्योज्यासस्य विपन्ने वाधकप्रमाणस्यानुपरभापनात् । चैतत्योत्परिमत्त्वयो- विरोधाभावात् । एवं ब्राचेतनत्वेनीत्पत्तिमत्त्वं व्याप्तं भवेषदि चैतन्येन तस्य विरोधः स्यात् नान्यथा । न चैवमिति नैतौ प्रसङ्गतद्विपर्ययौ गमकौ भवतः ।" स्या॰ र॰ ए॰ ५५४-५.

पृ० १६. पं० १६. 'पश्चमुद्धचादिकमपि'-''तत्र वस्यमाणमतीतसाध्यभीवशेषणत्वा-दियस्रदोषपरिहारादिः पश्चमुद्धः । अभिधास्यमानाऽसिद्धाविहेत्वाभासोद्धरणं हेतुमुद्धिः । मति-5 पादयिण्यमाणसाध्यविकलतादिदद्यान्तदृषणपरिहरणं दृष्टान्तमुद्धिः । उपनयनिगमनयोस्तु मुद्धी प्रमादादन्यथाकृतयोः तयोवेश्यमाणतत्त्वरूपेण ज्यवस्थापके वाक्ये विद्ये ।"-स्या॰ र० ५० ५६५.

प्र०१६, पं०२१. 'तथापि कार्याद्यनात्म' — स्वा॰र॰ष्ट॰५९४.पं०२३.प्र॰५५५.पं०६.

पु० १८.पं०९. 'नत्वन्यतरासिद्धः'-प्रमेयकमरूमार्चण्डे [ १० १९१] स्याह्मदरकाकरे 10 [१० १०१८] च अन्यतरासिद्धास्त्रहेत्वाभासस्य नास्तित्वाशङ्कायाः-"नत्वेवमणि अस्य असिद्धत्वं गौणमेव स्यादिति चेद् ; एवमेतत् ; प्रमाणतो हि सिद्धेरभावात् असिद्धोऽसौ न द्ध स्वरूपतः'' इत्यादिना यत् समायानं इतं तदणि अत्र पूर्वेयक्षतया उपन्यस्य समाधानान्तरं दीयते प्रन्यकृता ।

प्र० १८. पं० २९. 'धर्मभूषणेत'-''अप्रयोजको हेतुर्राकिचित्करः । स द्विविधः सिद्ध-साधनो बाधितविषयश्च ।"-न्यायशै॰ ९० १५.।

15 प्र० २०. पं० १. 'श्रनुशानग्रौ'—"तौ सदिति श्रनुशानग्रो: सङ्कतितसच्छब्दवत् इन्द्रइचिपदं तयो: सङ्कद्रिभागकम् इत्यनेनापास्तम् , सदसत्त्वे इत्यादिपदस्य क्रमेण धर्मद्रय-प्रत्यायनसमर्थत्वात् ।" तत्त्वार्थक्कवा॰ प्र० १४०.।

पृ० २१. पं० २०. 'जिनभद्र'-विशेषा० वृ० गा० ७५ विशेषा० गा० ७७, २२६२.।

ष्ट० २२. पं० १६. तथा विशेषप्राहिणः'—''अर्प्येते विशेष्यते हस्पर्पितो विशेषः 20 तद्वादी नयः अर्पितनयः समयप्रसिद्धो श्रेयः। तम्मतं विशेष एवास्ति न सामान्यम् । अनिर्पतम-विशेषितं सामान्यसुच्यते तद्वादी नयः अनर्पितनयः । सोऽपि समयप्रसिद्ध एव बोद्धस्यः । तम्मतं तु सामान्यमेवास्ति न विशेषः ।" -विशेषा॰ गृ॰ गा॰ ३५८८.

पृ० २३. पं० १८. 'तथा लोकप्रसिद्धार्था' - विशेषा० गा० ३५८९।

ए० २२. पं० २१. 'अथवा एकनय'-"अथवा यत् िकमप्येकैकस्येव नयस्य मतं तद् 25 व्यवहारः प्रतिपद्यते नात्यत् । कुतः !। समात् सर्वया सर्वेरिय प्रकोरिविशिष्टं सर्वनयमतसमूहमयं वस्त्वसौ प्रतिपत्तं न शक्तोति स्युल्दिशित्वादिति । विनिश्चयस्तु निश्चयनयः यद् यशामृतं पर-मार्थतो वस्तु तत् त्येव प्रतिपद्यते हति ।॥ विशेषाः इ॰ गाः १५९० ।

पृ० २३. पं० २४. 'तथा, ज्ञानमात्र'——विशेषा॰ वृ॰ गा॰ ३५९२। नयोपदेश का॰ १९९-१३८.

30 पृ० २३. पं० २५. 'तम्रजुसूना' - विशेषा० गा० २६२१ - २६३२ ।

पु० २३. पं० २९. 'स्थितपक्षस्वात्'-अत्रायं भावः-स्थितपक्षः सिद्धान्तपक्ष इति गीयते । तथा च सिद्धान्तपक्षे ज्ञानादित्रयादेव मोक्ष इति नियमात् ज्ञानादित्रयपयौतेव मोक्षानिक्षपित-कारणता शिक्षाऽभ्यासप्रतिभात्रयपर्यासा कान्यकारणतेव पर्यवस्थति न द्व तृणारणिमणिवत् प्रत्येक-ज्ञानादिविश्चान्ता ।

नैगमादिनयानां मते पुनः मोक्षानिरूपितकारणतायाः प्रत्येकं ज्ञानाविषु, बिह्वारणतायाः प्रत्येकं 5 तृणारिणिमणिष्विव विश्वान्ततया न तेषां स्थितपक्षत्वं सम्यग्दृष्टित्वं वा । अयमेव हि नयवाद-सिद्धान्तवादयोभेदी यन्त्रयाः त्रीनिप ज्ञानादीन् मोक्षकारणत्वेन मन्यमाना अपि प्रत्येकस्मिन् स्वात-स्थेणैव कारणत्वं कस्पयन्तन्तिनीपि पृथक् पृथक् मोक्षकारणत्वेन स्थापयन्ति । तन्मते हि ज्ञानमात्र-सेविनान्, दर्शनमात्रसेविनान्, चारित्रमात्रसेविनां च तुस्यतया मोक्षाधिकारात् । सिद्धान्तवादस्तु न कृतोऽपि ज्ञानादेरैकैकस्मात् मोक्षलाभिष्ट्ळाति किंतु परस्परसहकारिभावापकात् तत्र्रयादेव । 10 अत एव व्यस्तकारणतावादी नयः समस्तकारणतावादी च सिद्धान्त इत्यप्यभिषातुं शक्यम् । अत्रार्थे विशेषा० २६३२. गाथानुसन्येया ।

पु० २४. पं० ६. 'किंतु भावधटस्यापि'-"अथवा प्रखुराकऋजुस्त्रस्याविरिष्त एव सामान्येन कुम्भोऽभिमेतः, शब्दनयस्य तु स एव सद्भावादिभः विशोषततरोऽभिमतः इत्येवम-नयोभेदः। तथाहि-स्वपर्यावैः परपर्यावैः उभयपर्यावैश्व सङ्कावेन असङ्कावेन उभयेन वार्षिते 15 विशोषतः कुम्भः-कुम्भाकुम्भावकस्योभयरूपादिभेदो भवति—सप्तमरूपी प्रतिपद्यत इत्यर्थः। तदेवं स्याद्वादद्यं [ऋजुस्त्राम्युपपतं] सप्तभेदं घटादिकमधं यथाविवक्षमेकेन केनापि मङ्गकेन विशेषतरस्यौ अव्यत्यः प्रतिपद्यते नयत्वात् ऋजुस्त्राद् विशेषतरस्युमाहित्वाच ।स्याद्वादिनस्त संप्रभिक्तसम्बन्धमात्मकमपि प्रतिपद्यत्व इति । ग्राविषण इ० गा० २२३१-२

पूर २४, पंर १२, 'नयवाक्यमपि'-तत्त्वार्थक्षोकवार १. ३३. ९१-९५. स्थार रर ७. ५३. 20

पृ० २५. पं० १९. 'तत्र प्रकृतार्थ'—

"पञ्जायाऽणभिधेयं ठिअमण्णत्त्ये तयस्थनिरवेक्खं । जाइन्छियं च नामं जाव दव्वं च पाएण ॥" -विशेषा॰ गा॰ २५

"यत् किस्मिश्चिद् भृतकदारकादौ इन्द्राधिमधानं क्रियते, तद् नाम भण्यते। कथंभूतं तत् ?, इत्याह-पर्यायाणां शक-पुरन्दर-पाकशासन-शतमल-हरिभभृतीनां समानार्थवाचकानां ध्वनीनाम् 25 अनिभिष्यस्-अवाच्यस्, नामवतः पिण्डस्य संबन्धी धर्मोऽयं नाम्न्युपचरितः। स हि नामवान् भृत-कदारकादिपिण्डः किल्केन सङ्कोतितमात्रेणेन्द्रादिशब्दैनैवाऽभिधीयते न तु रोपैः शक-पुरन्दर-पाकशासनादिशब्दैः। अतो नामयुक्तिपण्डगतभर्मो नाम्न्युपचरितः पर्यायानभिष्यमिति।

पुनरिप कर्यम्तं तन्नाम ?, इत्याह—'ठिअमण्णत्ये'ति विविश्वताद् भृतकदारकादिपिण्डा-इन्यश्चासावर्थसाऽन्याची देवाधिपादिः, सद्भावतस्तत्र यत् स्थितम्, भृतकदारकादौ तु सहेत- 30 मात्रत्येव वर्तते । अथवा सद्भावतः स्थितगन्वर्धे अनुगतः संबद्धः एरनैश्वर्यादिकोऽर्घो यत्र सो-ऽन्वर्धः झबीपत्यादिः । सद्भावतस्तत्र स्थितं सृतकदारकादौ तर्हि कथं वर्तते !, इत्याह—तदर्थ-निर्पेक्षं तस्येन्द्रादिनान्नोऽर्थस्तदर्थः एरनैश्वर्यादिस्तस्य निरपेक्षं सक्केतमात्रेणैव तदर्भशूर्यः सृत-कदारकादौ वर्तते इति पर्यायानभिषेयम् , स्थितमन्यार्थे, अन्वर्थे वा, तदर्थनिरपेक्षं यत् कचिद् 5 सृतकदारकादौ इन्द्राधिभागं कियते तद् नाम, इतीह तात्यर्यार्थः ।

प्रकारा-तरेणापि नाझः स्वरूपमाह—याद्दिष्टकं चेति । इदमुक्तं भवति—न केवरुमनन्तरो-क्रम्, किन्दवन्यत्रावर्तमानमपि यदेवमेव यद्दच्या केनचिद् गोपालदास्कादेरमिधानं क्रियते, तदिप नाम, यथा दित्यो डिवत्य इत्यादि । इदं चोभयरूपमपि कथंमूतम् १, इत्याह—यावद् इत्यं च प्रायेणेति—यावदेतद्वाच्यं द्रव्यमवतिष्ठते तावदिदं नामाप्यवतिष्ठत इति भावः । किं 10 सर्वमपि १ । न, इत्याह—प्रायेणेति, मेरु-द्वीप-समुद्रादिकं नाम प्रमृत् यावद्दृद्यमावि दृष्टयते, किव्चित्र लोकं दर्शनात् । सिद्धान्तेऽपि यदुक्तम्—'नामं आवक्षद्वियं ति' तत् प्रतिनयत्वपत्रपारतामपरा-वर्तस्य लोकं दर्शनात् । सिद्धान्तेऽपि यदुक्तम्—'नामं आवक्षद्वियं ति' तत् प्रतिनयत्वपत्रपद्वादिसंद्या-मवाक्षिद्वस्य ययोज्ञराः कुरव इत्यादि । तदंवं प्रकारद्वयेन नाझः स्वरूपमत्रोक्तम् । एतच्च तृतीय-प्रकारस्योग्जल्लाम्, पुस्तक-पत्र-चित्रादिल्लितस्य वस्द्वभिधानभूतेन्द्रादिवर्णालीमात्रस्यप्यत्वत्र 15 नामत्वेनोक्तव्यदिति । एतच्च सामान्येन नाम्नो लक्षणभुक्तम् । "—विशेषा० इन् गा० २५.

> "यद्वस्तुनोऽभिधानं स्थितमन्यार्थे तद्वीनरपेक्षम् । पर्यायानभिधेयं च नाम याद्दब्छिकं च तथा॥"

अस्या आर्याया व्याख्या अनुयोगद्वारटीकातः [ १० ११ ] अवसेया ।

पृ० २६. पं० ४. 'क्कचिद्तुपयोगेपि'-"इदमुकं भवति-योऽनुग्युक्तो जिनवणीतां 20 मक्करूपं प्रत्युपेक्षणादिक्रियां करोति स नोआगमतो इशरीर-भव्यशरीरातिरिकं द्रव्यमक्ररूप्, उपयोगरूपोऽत्रागमो नास्तीति नोआगमता । ज्ञशरीर-भव्यशरीरयोज्ञीनापेक्षा द्रव्यमक्ररूता, अत्र तु क्रियायेक्षा, अतस्तद्व्यतिरिकत्वम्, अनुग्युकस्य क्रियाकरणात् तु द्रव्यमक्ररूतं भावतीयम्, उपयुक्तस्य तु क्रिया यदि गृद्धेत तदा भावमक्ररुतैव स्यादिति भावः।"—क्ष्रियेष इ॰ गा॰ ४६.

पृ० २६. पं० ८. 'विवक्षित'-

25

"भावो विवक्षितिकयाऽनुभृतियुक्तो हि वै समाख्यातः । सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिकियाऽनुभवात् ॥" इति ।

"अत्रायमर्थः—भवनं विवक्षितरूपेण परिणमनं मावः, अथवा भवति विवक्षितरूपेण संपद्मत इति भावः । कः पुनरयम् !, इत्याह—वक्तुर्विवक्षिता इन्दन-ज्वरुन-जीवनादिका या क्रिया तस्या अनुमूलिरनुभवनं तया युक्तो विवक्षितिकयानुभूतियुक्तः, सर्वद्रैः समास्यातः । कः इव !, ३० इत्याह—इन्द्रादिवत् स्वर्गाधिपादिवत्, आदिशब्दाञ्जवरून-जीवादिपरिमहः । सोऽपि कथं भावः !, इत्याह—इन्द्रनादिक्रियानुभवात् इति, आदिशब्देन ज्वरून-जीवनादिक्रियास्योकारः, विवक्षितन्त्रनादिक्रियान्वितो छोके प्रसिद्धः पारमाधिकपदाश्चे माव उच्यते।"—विशेषा॰ इ॰ गा॰४६.

25

पृ० २७. पं० ४. 'यदि च घटनाम'-''जबमिमाबः-चस्तुनः स्वरूपं नाम, तलस्यव-हेतुस्वात् स्वपमेवत्, इह यद् बस्य गत्यबहेतुस्तत् तस्य धर्मः, यथा घटस्य स्वधमी रूपादयः, यच्च यस्य धर्मो न भवति न तत् तस्य मत्यबहेतुः, बवा घटस्य धर्माः पटस्य, सपघते च घटाभिधानाद् घटे सप्रत्ययः, तस्मात् तत् तस्य धर्मः, सिद्धश्च हेतुरावयोः, घटशब्दात् पटादि-व्यवस्क्टेदेन षट इति प्रतिपत्यनुमतेः।"-विशेषाः वः गाः ६१.

पृ० २७. ५० ६. 'साकारं च सर्वे'-"मितस्तावत् क्षेत्राकारमहणपरिणतत्वात् जाकारवती, तदनाकारवन्ते तु नीलस्येदं संवेदनं न पीतादेः इति नैयत्यं न स्यात् नियामकाभावात्। नीलायाकारो हि नियामकः, यदा च स नेप्यते तदा 'नीलम्राहिणी मितः न पीतादिमाहिणी'इति कथं व्यवस्याप्यते विशेषाभावात् !। तस्मादाकारवत्येव मितरस्युपगन्तव्या। शब्दोणि पौद्रालिकत्वादाकारवाने । प्रदादिकं वस्तु आकारवानेन मत्यक्षसिद्धसेव। तस्मात् यदस्ति तत् सर्वमाकारसयमेव 10 यस्वनाकारं तलास्येव बस्व्याप्यादिरूपत्वात् तस्य।"-विशेषा इ॰ गा० ६४.

पु० २७. पं० १०. 'चतुष्ट्या'-"धट-पटादिकं यत् किमिष बस्वस्ति लोके तत् सर्वं मत्येकमेव निश्चितं चतुष्यर्थायम् । नपुनर्थया नामादिनयाः मादुः-यया केवलनाममयं वा, केवला-काररूपं वा, केवलट्रव्यतारिकष्टं वा केवलमावात्मकं वा । प्रयोगः-चत्र शव्दार्थवृद्धिपरिणामसद्धा-वः तत् सर्वं चतुष्पर्योग्यम् । चतुष्पर्योग्यन्ताभावे शव्दादिपरिणाममावोऽपि न दष्टः, यथा शश्चश्चके । 15 तम्माच्छव्दादिपरिणामसद्धाने सर्वत्र चतुष्पर्योग्यस् निश्चतम् इति मावः । इदमुकं भवति—अन्यान्यसंवित्वनामादिचतुष्टयात्मन्येव वस्तुनि घटादिशव्दस्य तदिभिधायकत्वेत परिणतिर्देष्टा, अर्थस्यापि पृथवुःनोदराकारस्य नामादिचतुष्टयात्मकत्वेव परिणामः समुण्ठव्यः, बुद्धरिष तदाकारः महण्यस्यात्मत्येव वस्तुनि अवलोकिता । न चेदं दर्शतं आन्तं बाधकामावात् । नाप्यदद्याश्वस्याऽनिष्टकस्या युक्तिमती, अतिमसङ्गात् । निहि दिनकराऽस्त्यादेशोष्टव्यस्यात्रिन्दि 20 वादिवस्तृतं वाधकसंभावनयाऽन्यसात्वकस्यान संगतिमावहति । न चेदं पर्शतं नाप्तं विद्यानाऽन्यसात्वकस्यानं समाणप्रच्यात्रक्ष्यस्य समाण्यस्यात्रकस्यानं समान्यस्यात्वकस्यानं समान्यस्यात्वकस्यानं स्वत्यप्रचे वस्तिवि स्वतम् ।" –विष्यापः वः । कः पः ।

पृ० २७. पं० १२. 'तत्र नामादित्रयम्'-"दव्वद्वियनयपयडी सुद्धा संगद्दपरूवणाविसओ । पडिरुवे पण वयणस्थनिच्छओ तस्स ववदारो ॥'' सन्मति० १. ४०

"अत्र च संग्रहनयः शुद्धो द्रव्यास्तिकः व्यवहारनयस्तु अशुद्धः इति तात्पर्यार्थः ।" —सन्मतिरो॰ ए॰ ३१५.

> "मृरुणिमेण पजनणयस्स उज्जुसुयनयणिनच्छेदो । तस्स उ सद्दाइजा साहप्पसाहा सुदुममेया ॥ " <sup>सन्मति</sup> १, ५. अ

"पर्यायनयस्य प्रकृतिराधा ऋजुसूत्रः स त्वगुद्धाः, शब्दः शुद्धाः, शुद्धतरा समसिरूदः, अत्यन्ततः शुद्धाः त्वेवंमूत इति ।" -चन्यविदीः प्र- २१५.

#### "नामं ठवणा दविए त्ति एस दब्बद्वियस्स निक्खेवो । भावो उ पजनद्विअस्स परूवणा एस परमत्थो ॥ " सन्मति १ ६ र

ए० २७ पं० ११. "ननु नया नैगमादयः प्रसिद्धाः ततस्तिरेवाऽयं विचारो युज्यते । अथ तेऽत्रैव द्रव्यपर्योयास्तिकनयद्वयेऽन्तर्भवन्ति, तर्कुच्यतां कस्य कस्मिन्नन्तर्भावः ?, इत्याशङ्कग्राह" 5 [बिशेषा० गा० ७५.] — 'तैगामस्य' इति

पृ० २७. पं० २४. 'दञ्जुसुअस्स'—"उञ्जुसुअस्स इत्यादि—ऋजु अतीतानागतपरकीयवरिहरिण प्राञ्जळं वस्तु सूत्रयति—अन्युवगच्छतीति ऋजुत्पृत्रः। अयं हि वर्चमानकालभाव्येव वस्त्वय्युवगच्छति नातीतं विनष्टतात् नाप्यनागतमजुत्यलतात् । वर्चमानकालभाव्यपि स्वकीयमेव मन्यते स्वकायिमाभकत्वात् स्वधनवत् -परकीयं द्वा नेच्छति स्वकार्याप्रसाधकत्वात् परधनवत् ।
10 तस्मादेको देवदत्तादिरनुवयुक्तोऽस्य यते आगमत एकं द्रव्यावस्यकमितं 'पुहुतं नेच्छह् चि'
अतीतानागतमेदतः परकीयमेदतश्च प्रथक्तं पार्थक्यं नेच्छत्यसौ । किं तर्हि 'है', वर्षमानकालीनं
स्वातमेव नाम्येपित तश्चकमेव इति भारः।'' अद्युः योग चत्रः १४. १० ९० १०

पृ० २७. पं० २६. 'क्स्य चार्य'—'इदमुकं भवति—यो द्वानाकारमपि भावहेतुत्वात् इत्य-मिच्छति ऋजुसूत्रः स साकारामपि विशिष्टन्द्रादिभावहेतुत्वात् स्थापनां किमिति नेच्छेत् ?, 15 इच्छेदेव नात्र सञ्चयः ।" –विशेषा० इ० गा० २८४९.

पू० २७. पं० २८. 'कि.ख'-"उपपत्त्यन्तरेणापि द्रव्यस्थापनेच्छामस्य साधयलाह-नमु ऋजुसुत्रस्तावत् नाम निर्विवादमिच्छति । तच्च नाम इन्द्रादिसञ्ज्ञामात्रं वा भवेत् , इन्द्रार्थरहितं वा गोपालदारकादि वस्तु भवेदिति द्वयी गतिः । इदं चोभयरूपमपि नाम भावकारणमिति क्रत्ता इच्छलसौ ऋजुस्त्रो द्रव्यस्थापने कथं नाम नेच्छेत् ! । भावकारणत्वाविशेषादिति भावः । 20 अध इन्द्रादिकं नाम भावेऽपि भावेन्द्रेऽपि सिक्षहितमस्ति तस्मादिच्छति तद्दुतुस्त्रः । तर्हि जितमस्माभिः अस्य न्यायस्य द्रव्यस्थापनापक्षे गुरुभतरस्वाद् । तथाहि-द्रव्यस्थापने अपि भावस्य इन्द्रपर्यायस्य आसन्नतरौ हेत् शब्दतन्द्वन्तुत्त्व तत्तामस्याभिः अस्य आसन्नतरौ हेत् शब्दतन्द्वनुत्त्व तत्तामन्द्रभणे वाक्षतर इति । एतनुक्तं भवति-इन्द्रमुर्विन स्वत्यात् स्वत्यात्त्व नामक्ष्यणो वाच्यवाचकभावस्यन्यस्यात्रीणेव स्थितत्वात् वाह्यतर इति । 25 अतो भावे सिक्षहिततरे शवदत्वात् नामेच्छन्तर्भुत्वते द्वयस्थापने सिक्षहिततरे स्वत्वात् वाह्यतर इति ।

अता भाव सान्नाहतत्वात् नामच्छन्नजुसूत्रा द्रव्यस्थापन सान्नाहततरत्वात् सुतरामिच्छादात । -विशेषा ००० गा० २८५०-१

पृ० २८. पं० ४. 'तन्नानवद्यम्' "तत् परिहरक्षाह्-इह संग्रहिकोऽसंग्रहिकः सर्वो वा नैगम-स्तावद् निर्विवादं स्थापनामिच्छत्येव । तत्र संग्रहिकः संग्रहमतावरुम्वी सामान्यवादीत्यर्थः, असं-श्रहिकस्तु ज्यवहारनयमतानुसारी विशेषवादीत्यर्थः, सर्वस्तु समुदितः । ततश्च यदि संग्रहमताव-30 कम्बी नैगमः स्थापनामिच्छति, तर्हि संग्रहस्तत्समानमतोऽपि तां कि नेच्छति १, इच्छेदेवेत्यर्थः । अथ यद्यपि सामान्येन सर्वो नैगमः स्थापनामिच्छति तथापि ब्याख्यानतो विशेषप्रतिपरिस्सम-हिकोऽसौ तामिच्छतीति प्रतिपद्यम्, न संग्रहिकः, न ततः संग्रहस्य स्थापनेच्छा निषिष्यते । तर्हि एकत्र संभित्सतीऽन्यत्र प्रच्यवते, एवं हि सित व्यवहारोऽपि स्थापनां किं नेच्छति ?। कुतः ?। असंप्रहिकनैगमसमानधर्मा व्यवहारनयोऽपि वर्तते, विशेषवादित्वात् । तत्वैयपोऽपि स्थापनामिच्छेदेवेति, निपिद्धा चास्यापि त्वया। अय परिपूर्णी नैगमः स्थापनामिच्छिति न तु संप्रहिकोऽसंप्रहिको वेति भेदवान्, अतस्तदृदद्दान्तात् संग्रहन्यवहारयोनं स्थापनेच्छा साथ-यितुम् । अत्रोच्यते—तर्हि नैगमसमानधर्माणी द्वाविष समुदितौ संग्रहन्यवहारौ गुक्तावेव । इदमत्र 5 हृद्यम्—तर्हि प्रत्येकं तयोरेकतरिनरपेक्षयोः स्थापनाभ्युपगमो मा भृदिति समुदितयोस्तयोः सम्पूर्णनेगमरूपत्वाद् तदभ्युपगमः केन वार्यते ?, अविमागस्थाद् नैगमात् प्रत्येकं तदेकैकता-प्रहणात् इति ।गः—विशेषा॰ ए॰ गा॰ २८५६-३.

पू० २८. पं० १०. 'किंच संब्रह्ण्यवहार'—"इत्युक्तं भवति-यथा विभिन्नयोः संब्र-हृज्यवहारयोर्नेगमोऽन्तर्भृतः तथा स्थापनाभ्युगगमरुक्षणं तम्मतमपि तयोरन्तर्भृतमेव । ततो भिन्नं 10 भेदेन तौ तदिच्छत एव-स्थापनासामान्यं संब्रह् इच्छति, स्थापनाविशेषांस्तु ज्यवहार इत्येतदेव युक्तम् तदनिच्छा तु सर्वशाऽनयोनं युक्तिति ।"—विशेषा॰ इ॰ गा॰ २८५४.

पु० २८. पं० १६. 'तत्र यद्यपि जीवस्य'- "चेतनावतोऽचेतनस्य वा द्रव्यस्य जीव इति नाम क्रियते स नामजीवः, यः काष्ठ-पुस्त-चित्रकर्मा-ऽक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स स्थापना-जीवः देवताप्रतिकृतिवत् इन्द्रो रुद्रः स्कन्दो विप्णुरिति । द्रव्यजीव इति गुणपर्यायविद्युक्तः प्रज्ञा- 15 स्थापितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो जीव इत्युच्यते । अथवा शून्योऽयं भक्षः । यस्य हि अजीवस्य सतो भव्यं जीवत्वं स्थात् स द्रव्यजीवः स्थात् अनिष्टं चैतत् । भावतो जीवः औपशमिकक्षायिक-क्षायोपशमिकौद्यिकपारिणामिकभावयुक्ताः उपयोगळक्षणाः संसारिणो युक्ताश्च द्विषा वस्यन्ते ।''——-तस्यार्थमाः १० १.५ः तस्यार्थमाः ।

-

### परिशिष्टानि ।

## १. जैनतर्कभाषागतानां विशेषनाम्नां सूची ।

अंक ( आचारादि ) २. २९. सक्त्रविष् ७. ३: 11: 16. सहैतवादिवर्शन २४.१८. इस्त २३. १. ५. ७. २४. २५. उत्तरभवपदा १८. १. पेरावत (क्षेत्र ) ७ १४. कल्याणविजय २१. ८; २५ ८; २६ ९. कान्यकुरुज १६, २४, काशी ३०. ११. कत्तिका १६. २८: १७. १-३. चार्वाक २४, १९. चार्वाकदर्भन २४. १९. चित्रा १७. २९. जिन १. १. ३. २३. जिनदस &. १२. जिनभद्रगणित् २१. २०: २७. १५. जीत विजय २१. ९: २५. ९; २६. १०; ३०. ५. जैत १७ १९. जैनतर्कभाषा २१. १०; २५. ११; २३. ११; १२. ज्ञा सारा है तथा विन 🐉 ८. त स्वार्थ टीका २८ २. तर्कभाषा १. २ : ३०. ८: ९. ताथागत रेप. १६: २४. २२. विक्पट ८ २२. दृष्टिवाद ७. १८. देवदत्त २३, १०, धर्मभूषण ११, २५; १८, २९. नवरहस्य २८. ८. मय विजय २१. ९: २५. ९; २६. १०; ३०. ६; १३. नैया थिक १०. १३: ११. २२: १३. ४: १४. २६: पद्म विजय २१. ९; २५. १०; २६. १०; ३०. ७, पनस १७. २०. परोक्ष ब्रद्ध्यादि वादिन् १. ७ पाटलियनक १६.२४. प्रस्वर २३. २. २४. २५. पुष्यतारा १७. १३; १७.

पूर्वकानी १३, १४: १८. पर्वमवपरा १८ १ प्रभावरसत् २. २. बाद्यार्थाप कापित् १.८. बीद ११. ५; १२. ५; १३. २०; १४. १६. सरिण १७, २: ३. भरत (क्षेत्र ) ७. १४. भा ह**े (०.** १. भाष्यकार २१. ४. भाष्यग्रन्थ १५, ५. मचा १७. १८. मदाविदेह ( क्षेत्र ) ७. १६. मातालक १७. ४. मित्रा १८. २७. मीमांसक १. ७. सगशिरस १७, १३. स्पन्नीर्थ १७ १८. क्र इंड बजदत्त २३. १०. य सो वि जवगणिन २१. १०: २५. १०: २8. ११: 30. 12. रोहिणी १७. १३: १७. लाभ विजय २१. ८; २५. ८; २६. ९. वासव २३. ४. विजयदेव ३०. १. विजयसिंह ३०. २. विशेषास्त्रस्य के २७. १९. में के चिक्र कथा १७ शकट १६. २८; १७. 1; २. शक २३. १: २४. २५. ज्ञास्य है. १५. शास्त्रशास १५. १८. साङ्ख्य १३. २१; १५. २२; १८. १९. साक स्वदर्शन २४. १८. सिंह सेन २७. १५ समेह २२. १९: २०: २४. २३. सीगत १५ १२. स्वाति १७. २९

१. परिशिष्टेषु स्थूलाङ्काः पृष्ठसूचकाः स्रुमाञ्च पर्वकसूचकाः ।

#### २. जैनतर्कभाषासतानां पारिभाषिकशब्दानां सची ।

अकिञ्चितकर १८. २९. अक्ष (इन्डिय) २. ७. है. २०: २१. अक्ष (ओव) २. ९: अक्षर (अतज्ञान) ७. २; ३. अगसिक 9. १८. अजीव २८. १६: १८. अज्ञात है है. ५. ०निवर्तक ११. २५. अतिदेशवाक्य १०. ११; १५. अध्यवसाय ४. १२: २१. १५: २१. भनक्षर ( श्रतज्ञान ) ७. ७. क्षनकप्रविष्ट ७. ११: १९. अनुष्यवसाय १३. १४. अनध्यवसित १३. ९. अनन्त्रधर्मात्मक २०. ८: ३१. १४. अनस्तवीर्यस्य 🗷. २६. सनम्बय १४. १६. १८. •वोष **१३**. २१. **अन्सिमत १३. ११.** अनम्बरगत १६. १८. अनर्पितनय २३. १६: १७. अनर्पिताभास २५. ५. अनाकारोपयोग ध. २२. अनादि ( श्रतज्ञान ) ७. ३५. अतादिनिधन २८. २०. भगानगामिक ( अवधिज्ञान ) ७. २७. अनिग्रह १८. १४. अनिन्द्रियज ( सांव्यवहारिक ) २. २०: २१. अनिराकृत १३. ९; १०; १७. अनिधित ( मतिज्ञान ) ६. २०, अनुगामिन् ( अवधिज्ञान ) ७. २४. अनुपयुक्त २६. २०. अनुषयोग २६. ४. अनुपक्षम्भ ११. १६; १४; १७; १८. अनुभव है. २: ६: ११: १९: २९. अनुभूत १०. १३. अनुमान E. ८; २९; है. २६; १२. २; ५; १२; २७; **₹**₹. १५; {¥. २; १७; २५; **१**५. १1; १३. ₹8. €. अनुमिति & दे; ४; ७; ८, १२. ११; १६. १५. १; अर्थसंवेदन १६. ५.

अनवति १३. २०. अनसस्थान ६. ५. अनैकान्तिक (हेस्वाभास ) १६. ४: २३ अनैकान्तिकत्व १२, १०. अलार्डल्य २. २५ अन्तर्भृष्टर्त ६. ४. अन्तर्मापि १२. २१-२३, २६. अन्यतरासिद (हेरवाभास) १ इ. ५; ९; १३; १७; १८, अन्यथानुपपत्ति ८. ८; १२. ८; १७; १३. ६; १६. ર, રેઉ. ૧, રેટ. ૨, ૨૨, રેઢ. રેઢ. પ. अन्वय &. २०-२२<sub>:</sub> **१०**, २६. ०धर्म ५. १५: २७, अपर ( संग्रहनय ) २२. ९; १२. अपर्यवसित ( अतज्ञान ) ७. १०. अपाय है. २: ४. १६: ५. ८: २३: २५: २८: ३०: £ 88.90. अपारमार्थिक २. १५; २४. १८. अप्रतिपातिन् ( अवधिज्ञान ) =. ४. अप्रतीत १३. ९: १०. भप्रधानाचार्य २६, ४, अप्रमाणत्व १४. २६: अग्रमास्त ६.३. अप्रयोजक १६. १, अप्राप्यकारित ३. १२. ध. ३. अवाधित १३. १७, अवाधितविषयत्व १३. ३. अभीप्सित १३, ९, ११, १८: १४, १६, १८, अमेद्रकृति २०. ८; १७-२३; २५; २७, अभेदोपचार २०. ८: २१. ५. अम्पस्त ६. १७. अम्बद्धन १६, १३. अर्थ (कालादिगत ) २०, १५; १९; २९. अर्थक्रिया १५. ८: २२. २. अर्थक्रियासमर्थ १५ ६. अर्थनय ६३. १५. अर्थनयामास २५. ३. अर्थपर्याय २२. ४. वर्धप्रतिपादक १६. ७. अर्थप्रापकल १६. १५

```
अर्थावस्तर (सतिज्ञान ) ३, ३, ८, ९, १२: १७-
    16, 21, 28, 21, 4 1, 4, 4, 4, 4, 9.
अर्थितनय २३. १६: १७.
अप्रित्नग्राभास २५ ४.
अवसञ्च्य १६. २८, २०, ३-५.
भवग्रह ( मतिज्ञान ) २, २५; २७; ३, २; ४, १२;
    २0, ¥. १-८, 10; 17, ६. 14, 16,
अवधि (जान) २. ९: ७. २२: २३.
अवयव १६. ६. १३.
अवसर्विणी ७ १५
अवस्त्रनिर्भास ११, ११,
अवहरण २२ १२.
अवास्तरसामान्य २२. ११.
भवाय ( मतिज्ञान ) ५. १९.
अविष्यति ५. २१, ३०: ६ ४: ७.
अविरुद्धानप्रकृष्टिय ( हेन् ) १७. २५.
अविरुद्धोपलन्धि (हेतु ) १७. ८.
अविष्यस्थाव २७. २०.
अविसंवादकत्व है. १०.
अव्यक्त ध्र. २२.
अध्यक्ताक्षर ७. ७.
असा २३. ९.
असंग्रहिक (नैगमनय ) २ = ४.
असरक्याति १४. २८.
असस्य १६, २६.
असरप्रतिपक्षत्व १३. ३.
असातवेदनीय =. २२.
असिख १४, २२,
असिब (हेरवाभास) १६. ४: ९: १०: १२! १६. ५
असिबता १८. १७.
असिद्धत्व १२. ९.
असिबिट १४. १९.
अस्तित्व १५. २.
अस्पष्ट २. १२; ८. २९; ६. १५; १७.
भागम ८. ३०: १५, २१: २३: २४: १६. ७: १२:
    36. 13
भारमरूप (कालादिगत) २०, ३२, १५, १८, २८.
आत्मन १. १३.
आस्मार्थस्य १३, २०
आनुगामिक ( अवविज्ञान ) ७. २५.
आनमानिक १३. २४.
```

```
आन्तर्मुष्टर्तिक छ. १२
. of .28 mms
आमवचन १८. ७.
आखोश्चन ४, ३१; ५, २; ४; ५,
आवरण ७. ५; ८. १६; १८.
भावरणभय ८. १६
आवापोडाप ११. ६.
आहारपर्यामि ८. २२.
आडार्यारोप ११, २०: १५, १.
आहार्यप्रसञ्जन ११, २०.
बदस्तोल्लेख है, १७.
बन्बस्थापना २७. २७
इन्द्रिय २. ७; ६. १९; ७. ५; ६. २४; २८;
    20. 30
इन्डियज (सांव्यवहारिक) २, २०.
EET 2. 28: 3. 2; 8. 14: 10: 20: 4. 4.
    £: 11: 17: 14:
उच्छवास ७ ७.
बस्का ६, १६.
उत्तरचर (हेत्र ) १७. २; १८,
उत्तरचरानुपछन्धि (हेत् ) १७. २६
उत्पल्पन्नशतस्यतिभेद ६. १८.
बस्मिणिणी ७. १५
उपकरणेन्द्रिय है. ५.
उपकार (कालादिगत ) २०. १५: २१: २१, १: २.
उपकारिन २१. २.
उपचार ७. ४: १५, ११.
उपनय १६, १५.
उपपत्ति १६, ३.
उपमान (प्रमाण) १०. १, २, ४, ६, १०,
    13. 20.
उपयोग १, १९: ३, ३०: ५, ३०: ६, १: ३. ७.
    9. 48. 90.
उपयोगेन्द्रिय १. १२.
उपक्रमा ११. १६, १८.
उपसंहारवचन १५. १५.
उपसर्ग २२. १९: २२.
उपाइ २, २९
उसवसम्बन्ध (स्थान) है. ५.
उभवसिव १४, १०, १३,
डभवासिड (हेरवासास ) १८. ५.
```

क्रियाशस्य २३ ८: १०-१२

उद्येख २, ५. कार्यनासासास्य है, ११. उद्ध ( प्रमाण ) १०. २३: ११. २ ऋज २२. १५. अन्त्रमति ८. ९. ११. अस्त्रमय ( सय ) २१. १९: २०: २२. १५: ६३. 24, 28, 3, 4, 0, 6, 20, 18, 21-21. ऋजसन्नाभास २४, २२. प्रकारतान १०. 1. एकान्सनित्य १५. ६. ण्डार्थसमदायिन २. १०. एकेन्द्रिय ७. ७. एवस्पत ( नय ) देश. २०: देवे. ३: ६: ६४. ११. एकम्भताभास २५. १. भीताविकवातीत ८. २५. औपश्रमिक १८. १७ कथा १३. १२. १३: १८. करणोक्षेत्र २. ४. कर्मन ८ १६, १८, EIFE 22. 14. 20. BITTO 8 19. 30 कारण (हेत् ) १६. २४ कारणत्व १२. ४. कारणानपळविध १७, २५. कारणास्तरसाकस्य १६. २७. कार्य ( हेत् ) १६. २१; २३. कार्ष १७. १६ कार्यानुपछव्धि १७. २५ कार्यापण १६. ८. काल २४. २२ काछ ( ब्रब्यादिगत ) ७, १४, १६, १६, २२, २४. काल (कालादिगत ) २०, ८: ११: १२- १५. १७ 28. 4 काल ( कालकारकादिगत ) २२. १८: १९: ३४. ५: कालात्ययापदिष्ट १६. ३ कालिकश्रत ७, १८ केवल (ज्ञान) ७. २३, ८. ३, १५. कैवल्य द्र. १९; २२; २३. 新井 その. 90; 12. क्रमभाषी २२, १४ क्रमयौगपद्य १५. ७.

किया (कस्पना) ४. ९.

किसासस २३. ३५. क्रियानयाभास २५. ७ अयोपशम ध. ४: ६,८: ११:७, ५: १७: १०. 18: 28. 12. क्षित्र (सतिज्ञान) ५. ७: १२:६ २०. क्षेत्र ७. १४: १६: १६. २२; २३; गर्जनिमीलिका २२. ११ गणधर (०. १९. गमिक (अत) ७. २: १८. गण २८. २१: २२. गण ( करपना ) थ. ९. गुणशब्द २३. ९. गणिदेश (काळादिगत ) २०. १६: २२; २१. P . 3. सौ २३. ९. ARM 8. 1: 88. 3: 8. साम् थे. १. घटनास २७. ४. घातिकर्मन इ. २३. चक्षरादिजनित २. २०. चारित्र ६३. २५: २७. विश्वास है १६ च्यवसान ३. २९. सम्बद्ध ३. २९: इ. २६. जाति (करपना ) ध. ९ जातिशब्द २३. ८. जिगीपक्या १३. १५. जिल्लासा १६. २३ जिननास २६, २८ जिनस्थापना बर्ड. २८ जीव २. ९; २२. १३; २४. २०; २इ. १४; १६; 16: 38: 39. जीवस्य ३८ २० ज्ञान १. ६ ज्ञाननय २३. २४: ज्ञाननवाभास २५. ६. तर्कं इ. २९; १०. २३; २८; ११. १; ६; ७; २०; २२: २३; २५: १६. ७. तिर्थमसामान्य है. ११ त्रिलक्षण १२. ९.

नवन है. १२, ४, ७.

बैरूप्य १६. २७ दण्डिन २३. १३ दर्शन १. ६: ६ ५: 8. २४: १०. २८. बार्झान्तिक १६, १५. ER 80. 2. द्रष्टान्स १६. ६; ८; ११; १२; १५. दशस्तवीय १६. ३. वेवजीव २८. २७: २८. 24 3. 4: 9. 18; 14; E. 14: & 14: ₹&. २२; २३; २१. १८; २२; **३२**. ४; ५; ७, 14; 10; 28. 14; 14: 14: 14: 20: 22: 20. 6. क्रब्य (निक्षेप) २५, १८: २८: २६ ३: ११-१३: 14: 19: 20: 22: 20 8: 0: 23: ₹E. 9: 9¢. द्वव्यक्रयना धः ९. द्रश्यक्रिया ६६. ५. व्रव्यजीव २६. २२; २६; २७, २९. प्रव्यजीवस्य २६. ७. व्यव्य २२. ११: २८. ३ व्रव्यदेव २८. १९. द्रव्यनिक्रहस्य हे. ५. व्ययमन है. १९. द्वव्याचार्य २६. ३. उस्यात्मक २७. ७: व्यवार्थ २. ३: ५. प्रव्याधिक देश, १७-२०; दे≡. ६; डब्बार्थिकनय २० २६. इच्यार्थिकाभास २४. १५. व्रव्यास्तिकनय २७ १२. ज्ञपेन्त्र २६. १९; २१. धर्म १३. २४: १४. ३, १8. २०, २४. १६. धर्मिन् १६. २५, २६, १४. १, ६, ४,७,८, 11-14: 10: 24-26: 48. 14. धारणा ३. २; ५. २१; २४ २६; २९; ३०; & R. B. 99.

धव ( मतिज्ञान ) ६. २०.

नमस्कारनिक्षेप २७ १९.

24: 24. 18, 20. 12:

ध्वनि २२, १८,

नयवाक्य २४. १२: नवासास २४. १५. नाम (निक्षेप) २५. १८; १९; २६. १०--१३; 14, 14, 14, 22, 22, 20-24; 28. 1-2; 12; 22; 24, 25, 2, 28; 28, 8, नाम (कडवना ) ४. ९. नामजीव २८. १६: सामात्मक २.७ ५. नामादिनयसम्बद्धवाद २३. १०. नामादितिक्षेप २८, १४. नामेन्द्र २६, १८; २१; नास्तिस्व १५, २ निःश्रोप (निश्रोप) १. २. २५. १४-१७. २७. १२; २२; २८. ४; १८. निगमन १६. १६. निग्रहीत १८, १४: निव्रह १६. १५. निग्रहाधिकरण १इ. १९. निराकत १8. 1. निरुक्ति २२. २३. निर्णीतविपक्षत्रतिक १८. २३. निर्वत्तीन्द्रय ३. ४. निश्चय २३. १४: निश्चय (नय) २३. २०: २२. निश्चयाभास ६५. ६. निश्चित ( भतिज्ञान ) ६. २०. निषेध १६. १९. निषेधकस्पना १६. २६; २८; २९; २०. ३-६. निषेधसाधक (हेतु ) १७. ९. नील २३, १०, नैराम ( नव ) २१, १९; २१; २२. ७; ६३. २६; 28. 2; 29. 18; 26. 4; 10. नेगमाभास २४. १७. नेश्वयिक प्र. १०. QBF 23, 24; 28. 2; 2; 24. 11-18; 24. 4; u; 12-18; 14; पक्षादोप १६. २. पश्चवर्मता १२ १६. पक्षधर्मत्व १२. ९; ११; १४; १३. ५. नय रे. २: २०. ९: २१. १४-१६: २३. १४: २३. पक्षभान १२. १६; १७.

क्रवास्त्रसम्बद्धाः १५. १५. पालकावि १६. १६. क्रव्याध्यसंसर्व १२. २१. २६. वाद्यीयसाध्यसाधनसम्बन्ध १२. २१. ur ts. 10: 11: 22; 20. 1; 2; पतार्थप्रतिबस्य ११. १२. पर ( सहग्रहनय ) २२. ९; १०. पस्प्रतिपत्ति १६. ६: ७; १०. THE BERT प्राप्तर्भ २२. ९. परार्थ (अनुमान ) १२. २: १३. २२: १५. 11: 91. grei ?3. 99. परिपर्ण ( नैराम ) २६. ४. परोक्ष २. ७, १२; १६; १८; इ. २९; २१. ६. वर्षाय ( शहत ) २२. २३: २४. २३, १. ६४ २४. aufa =. 14: 22. 16: 21: 22: 22. 1. 2: 4; 0, 11: 18: 16; 28. 14: 16; 19: ₹ o; ₹ २ · 월 Œ . ₹ 9 : ₹ ? ; पर्यायाधिक २०. २६: २१. १७-१९. पर्यापाधिकाभाग २४. १६. पर्याचा विज्ञासम्बद्धाः ३.९. १३. वाश्वस्यय १३. ४: ५: पारमाधिक ( प्रत्यक्ष ) २. १३:७ २२. maien 13 19. पारिणामिक (भाव) २= २०. परुष २२. १९: २२. प्ररुपवेद =, ४; पूर्वचर ( हेतु ) १६ २८; १७. २: १८; पर्वेषरानपळविश्व १७. २६. पीवलिक १६ १०. प्रकरणसम ( हेरबामास ) १8. %. प्रतिशा १५. १७. मतिपत्ति १३ २५: १४. १५: १७; १९; १६. ४; ८. प्रतिपातिन् (अविधि) ७. २४; इ. २. प्रतिबन्ध १६. ७; १२; १४. प्रतिवादिन् १३. १७; १५. २३; १८, १६: प्रतिषेध १६. १२; २४. १२. प्रतिषेधरूप (हेतु) १६. १९; १७. २०. प्रतिपेधसाधक (हेत् ) १६. २०; १७ २० मतीत १६. १.

२२: २५: १a. ५: २६: ११. ९: ९o: ९४: 10; 16; 18 4; 6; 18, 4. प्रत्यक्षगम्य १४. ११. प्रत्यक्षविरुद्ध १३ १०. प्रत्यभिजा के १७: १०. १८. प्रस्थितिज्ञान ⊑ २९: ८ ११: १५: २१: २४: 20. 1: 26: 22. E: पत्यभित्रानमा १० ९. प्रत्यभिज्ञानत्व १०, १४: २१, प्रमाण १. २: ४: ९: १२: १३. १० १०. १८: २०: ₹₹, २१, २२, १४ थ, ₹६, १२, **२१**, ७, 18, 19. प्रमाणस्य २२ ८; २३, २३. प्रमाणप्रसिद्धस्य १४. ५. व्याणविकस्ववस्थितस्य २५. ६. प्रमाणविकल्पमिख १४. १२. प्रमाणमित १४ ७: १३. प्रमाणवाक्य २४ १३. प्रमाणकदेशत्व देश. १५. प्रमान्त्र ६ ३. प्रमेग १०. ४. प्रयोजकबृद्ध ११. १. प्रयोज्यस्य ११. ४. प्रवृत्तिनिमित्त २ 1०. प्रसार्थ २१० प्रदेश ७ २७: २८. व्रसङ्खिपर्यय १५. २७ १६. १. प्रसिख १३. २५. व्यसिद्धि १४. ४. वानिस्त्रिक २०. २. प्राप्यकारिता है, २५. प्राप्यकारित्व ३. २०; ४. ३. प्रामाण्य ११. २५; १६. १३; १५; २२. ७. प्राचिक रेड. १६. फल ११. २७. वडिव्यांसि १२. २३-२५. बह (सतिज्ञान) ६, २०: २१. बहविध (मितजान) ६.२०. बाधितविषय १३. २: १६. १. बोच ५. १६.

प्रस्यक्ष २. ७: ९: १६: ७. २०: ८. २७: ८. १: २०:

भक्र १६, १६, १४; १२; २०. ७. भजना ७. १२. भाष ७. १५; १६. २२; २५; २५, १८; ६६. ८; 10: 17: 19: 20: 24; 20: 23. 1; 2; u: 11: २०: २२. २९: 🝱, u: भावजीय २६. १७: २३. १. भावत्व २९. ३. भावश्रत ७. ८. भावास्मक २७ ९. भावोसाम ३६. २८: २९. भाषा थे. ६. भतचत्रष्य २४. २१. भेदविवक्षा २०. ११. भेववत्ति २०. ९: २१. ६. भेदोपचार २०. १०; २१. ६. मति (ज्ञान) २. ९: २२; २३: २५: ३. २; ५. २८: \$. 2: 20; \$9; O. 20, मनस २. २१, ३. १२, १८, २०-२२; २५, २८; ₹1; 8. 1; 8-9: €, 19; O. 4: #. o. ₹9. €. ₹4. मनःपर्यय (ज्ञान) ७. २३: मनःपर्यव (ज्ञान) इ. ७. मनःपर्याय 🕳 ७. मनःपर्यायदर्शन = १०. मनोजन्म २ २१. मनोजन्य ⊑. २० मनोत्रस्य है. १०: ४. २. मानसत्व १०. २०. सिध्या (श्रत) ७. ११-१३. मिथ्यादृष्टि ७. १३. मोधा २३. २६-२८. मीलहेतु १५. २७; २८. यहच्छाशब्द ६३. ११. यौगपच २०. ११; १४. लव्ध ( अक्षरश्रुत ) ७. ३ छव्य (इन्द्रिय ) १. १९. २. १: कब्ध्यक्षर ७. ५. किक २२. १८: २१. கிக்க மு. 11. वचन १६. १०. वर्ण १६. १०.

वर्षमान ( अवधि ) छ. २४: ३०. वस्त २२. ४. वाक्प्रबोग १६. १९. वाक्य १३. ११. वाच्यवाश्वक्रभाव ११. ३: ६. २०. २: वाड १५. १९: १६. १५. वादिन १३. १७; १८; १५. २३; १८. १०; १४; १५; वासना ५. २२, २३; ६. १; ६; १०; १२; १४, विकलप्रत्यक्ष इ. १३. विकलादेश २०. ७; १०; ६४. १३. विकरण ध. २५: ११. ५: १०: १४. ४: २५: २६. विकल्पगम्य १४. १२. विकल्पप्रसिद्धत्व १४ ६. विकस्पतिद्व १४. ८; १०; १३, १४; १६; २६-२८ विकस्पारिसका १५. १. विजिगीष १५. १९. विधि १६, १२: १९: २५, १२. विधिकल्पना १८: २२: २८: २९: २०. ६-६. विधिरूप (हेतु) १६. १९: १७. ८. विधिसाधक (हेत्र ) १६. २०: १७. ८: २०. विपक्ष १२. १०. विपक्षबाधकप्रमाण १६. २. विपक्षासस्व १६. २७. विपरीत १३. ९. विपरीकारीय १५. ३. विषयंय १३. १३: १८. ५. विप्रसमित इ. ९; ११; १२. विरुद्ध १४. २३: १७. १५. विरुद्ध (हेखाभास ) १ =. ४; २१. विरुद्धकारणानुपलम्भ १७. २१. विरुद्धकार्यानप्रकास १७, २१, विरुद्धत्व १२. १०. विरुद्धधर्माध्यास १६. १: ६६. १३-१५. विरुद्धव्यापकानपलम्भ १७. २१. विरुद्धसङ्चरानुपसम्म १७. २१. विरुद्धस्वभावानुपलम्म १७. २१. विरुद्धानुपरुव्धि १७. २१. विरुद्धोपस्टव्यि १७. ९. विशेष १४. २१. विरोधिकाका ११. २१. विवर्त २२. १६.

शब्दनवाभाम २५.३.

विशिवसम्बद्धाः है. २८. विद्योबदर्शन ११. २०. विशेषावसर्ग १५. ७. विषाणी २३. १३. विकास १०.९. बेट E. ४. व्यञ्जन (अक्षरश्रत ) ७. ३. marar 3. v: €. U. ≥. स्यश्चनवर्याय २२. १: ३. व्यक्षनाक्षर ( श्रत ) ७. ४. व्यक्षनावप्रह ( मति ) ३. ३; ६; १२; २८; ४. १; ₹: 4: 0; 94, ₹₹: 4. 1: 8: 8. 6. 94. स्यतिक्रम ६. १६. क्वातिरेक A. २०-२२; १०, २६. यर प्रमुख्याच्या ध्यभिचार १४. २०. व्यक्तिचारिन १५. २२. स्ववसाधिन १. ७. स्ववहार (नय) २१. १९: २२ १३: २३. १९: २२: २६: ६४. २: ४: २**७**. १३: २८. ३: ५: w: 6: 90: 93. EGERT 23. 12. व्यवहाराभास २४. १९: २५ ५. ब्यापक १०. २९; ११. २०. ब्यापकानपलविध १७. २५. क्यांति & २६: १० २६: ३०: ११. 3: 30. २२: 22.19; 24; 23. 28; 26 1; 2m. 21; 22; ह्याचित्रह १६. ९. च्याचियरण १६. ७. व्याप्तिज्ञान इ. १७, है. ३; ७, ब्याप्य ११. २०; १७. १६. ब्याप्य (हेत् ) १६ २०, २१, स्याप्योवस्रविध १७. १०. ध्यावहारिक प्र. १०. व्यत्पसिनिमित्त २. १०. शकामात्रविघटक ११. २४. शक्ति १३. ९: १३. १२. शतशानश २०. १. SIER 23. 3. शब्द (कालादिगत) २०. १६; २४; २५; २१. ४; ५, शब्द ( नय ) २१. १९: ६२. १८; २३: २३. १६:

રુક્ષ. ધ; ६; ૧૦; રે૭. ૨૧.

शस्त्राद्यक्षेत्र ४. १०. शब्दाभास २४. २३. शब्दोड्लेख २. २६: ४. १२. शाख १५. १८: १९. शक २३. १०. शबद्धम्य २२. १०. अत २. २२; २३; ७. २; ९; २०; २३. २७. अतनिश्चित २, २६, श्रताननुसारिन् २. २३. श्रतानसरण २. २८. अतातुसारित्व २ २३; २७. श्रतानसारिन २. २३. श्रतोपयोग ७ ५. શ્રોલા છા છા પૂર, ૧૬. संग्रह (नय) २१. १९; २२. ९; १०; १२: २३. २६; २४. २; ३; २७ १३. २**८**, ३; 4-6: 90: 93. संवद्यायास २४. १८. संवहिक ( नेतस ) २० १: ७. संपर्णनेगम २८. ९. संबन्ध १२. ३. ४: संबन्ध (कालादिगत) २०, १५; २०: २४; ३०; 27. 1. संबन्धित २०.३०. मंबोगिड्डब्बज्ञस्ट २३. १२. संस्थवहार २. १४. संशय ५. १७: १३. १३; १६. २१. संसर्ग (कालादिगत) २०. १६: २३: २४: २१, ३. संसर्गित २१. ३: ४. संसारिजीव २८. ३. ##### 4. 23. 8. 8: 0. संस्कारप्रकोध है, २४. संहतपरार्थस्य १३, २०. सक्तप्रसाम 🗉 १५. सकलादेश २०. ७; ९. सक्छन है. २९: सङ्ख्यासक ६. ३३: १०. ८: ३३. ११. ५. सङ्ख्या २२. १८; २१. सङ्जा (अक्षरश्रत ) ७. ३. ४. सम्जासन्जिसम्बन्ध १०. १२.

सन्तिन ( अतज्ञान ) ७. २: १०. सत्तादेत २५, १७. arafaus 23. 3. सदश १०. ९: ११. सन्दिग्धविपक्षवत्तिक ( हेलाभास ) १८, २४. सन्देश १८. ५. मबिकर्ष है. २८. सपक्ष १२. ९. मपर्यवसित (अतज्ञान) ७. २: १७. MAME 58. 4. mana's \$2. 19: 18 16. 20: 20. 9 28. 12. MITTER (9. 90. समभिक्द (नय) २१. १९: २२. २३: २४: २३. ४. सम्बिक्ताभाग २४. २५. समवायिटन्यशब्द २३, १२. समर्थन १५. १६: १६. ८; ९. सम्बंबन्याय १८. १६. समदयवाद २३. २९. समादित १२. ४. सम्यक ( श्रतज्ञान ) ७. २: ११-१३. सम्बद्ध २३. २७. सम्बद्धान १. ९. सम्बन्दर्शन 💷 १८. सम्बद्धि ७. १२. सहचर (हेत् ) १७. ४; १९. सहच्यानप्रविध १७, २६. सहचार १२. २५. सहभाविन २२. १४. सांव्यवहारिक २. १३: १४: ७. १९. साकार २७. ६. सादि (अतज्ञान) ७. २; १४ #1852 to. 3-4: 6: 10: 11. सादवयज्ञान १०, १: २. साधन १०. २७: २८: ३०: ११. १: १२. २: १५: २१: २२: १३. १२: २६: १८. ५. साब्ब १०.२७; २९; ३०; ११. १: १२ २: ३: २१-२३; १३. ८; ९; १२; २०; २४ २६: ₹8. 1; 0; 9; 13-12; ₹¥. 14; ₹8; ₹5. 3; 8; ₹E. ₹9; ₹£. 8; 4. साध्यधर्मविशिष्ट १४. २. साध्यधर्माधार १४. १.

साम्बन्धात १०.२३. सामध्योग्रतिबन्ध १६. २७. सामानाधिकरणा १० २९. सामान्य १५. २५. सामान्यस्थापास्यासत्ति १०. ३१: ११. १. सावरणस्य ८. १७. सिक १८. १८: सिद्ध ( भगवान ) २३, १७, बिद्धमाधन १६. १. स्यानर्डिनिडा 3. २७. स्थविर ७. १९. स्थापना २५. १८; २७; २६. ११-१३: १५: १९: २२: २3. 1: २९: २m. २: 1: 4: 4: 4: 4: 11: 17: 10: स्थापनाजिन २५. २७. स्थापनाजीव २६. १७. स्थापनेन्द्र २५. २७: ३६. १६: २२. स्थितप्रधास ६३. २९. स्वष्ट है, १५. 200AT 2 11. स्मरण =- २९; ३०; ६. २२; २६. १०. २८; ११. 4; १२. ३; ४; १६. ७, समत १०. ५. ८. स्मृति पू. २१: २३: २८: ६. २: ३: ५: ७: १३: 10; &. 4; 4; 4; 11; 14; 78; 74; 74. स्मतिज्ञानावरण ६. ८: १३. स्यात १६. २२. Pt .48 status म्बवस्थावसाबित्व ११. २३. स्वपरम्बवसायिन् १. ४; ६. स्वभावविरुद्ध १७. ९. स्वभावानपञ्जन्धि १७, २५. स्वरूप (कल्पना) ध. ९. स्वरूपप्रयुक्तास्यभिचार १०. २५, १२. २४. स्य रूपविशेषण १. ८. स्वरूपात्रतीति १६. ५. म्बसंबिदितस्य २. ३. स्वसमय १५. ८. स्वानरकत्वकरण २०. २१. स्वाधिस्य १९. ११. स्वार्थ (अनुमान ) १२. २; ३. १३. २२; २५; 18. 2.

#### ३. जैनतर्कभाषागतानामवतरणानां सूची ।

#### ४. तात्पर्यसंब्रहहत्त्वन्तर्गतानां विशेषनाम्नां सूची ।

धर्मभूषण ५६. १; इ.

अभवदेव देश, ३ आचार ( अङ्ग ) ५०. ११, १५. शासदयक (सत्र ) ५०, १२, ५१, ६. उदयनाचार्य ५२. ११. उपाध्याय ३२. ५. पेरावत ५०. १८. कमारिक देश. ९. चिन्तामणिकार ५१. २३; २२; २८; २८; ५९; ५३. ५. विस्तामणिकृत् ५४. ८. जैन देदे. १६, ५१. २०, ५६. १८, ५६. १, ५. जैनमर्क ३२. १०. जैनमत ३१. १२, ५६. ३; २८. तात्पर्यसङ्ग्रहा ३१. २. दीचितिकत् ५४. ८. र्राष्ट्रवाद पृश्. २. देवसूरि ३२. ४: ९: ३३. ९.

निस्पन्न ४०. १५, ४१, २४. नम्याप्यत ४२. १. नम्याप्यत ४२. १. नियापक ४२. १. नेवापिक ४२. ११, ५३. १८, २२, २४, ५४. १. मू. १८, ३२, १६. २८. नेवापिक ४३. १२. म्याप ४१. १. म्याप ४१. १. म्याप ४१. १. म्याप ५४. १. म्याप ४१. १. म्याप्यत्याच ४२. १. म्याप्यत्याच ४२. १. म्याप्यत्याच ३२. १८, १०.

- बीख परे १९, प्रेप्त २२, ६०. बीखमत पर्य. ३. सत्त (क्षेत्र ) ५०. १८ आहपक प्रदे. २१ सात्त ५० १६, १४. आणिक्यवनित्त हरे. ६. मीमीचक हरे ९, ५३. १८, २२. मीमोचा परे. १९. वशीखिय हरे. १. -

रलाकर देश. ५.
वादिवेचस्ति देशे. ६.
विधानन्य देशे. २०.
वेद्यानन्य देशे. २०.
वेद्यानेक पृश्चे. १९.
सामान्यकक्षणा ( झम्ब ) पृष्ठे. ८.
सामान्यकक्षणा ( झम्ब ) पृष्ठे. ८.
स्वाद्य देशे. २०.
स्याद्वाद्यालाकर देशे. १८.
स्याद्वाद्यालाकर देशे.

सुखादिना सुखान्तेन ठाळान्तेन दिळादिना । महेन्द्रेण च संभूय कृतिरेषा समापिता॥



शुद्धिपत्रम् ।

		2000	
पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
3	24	<b>व्य</b> जनी~	व्यक्षमा-
4	\$8	सम्यग	सम्यग्
4	18	पुत	एवे'
	٤	-परिच्छिनत्तीत्ति	परिच्छिनसीति
•	48	स्थानीयासत्तो	-स्थानीयात्ततो
10	20	प्रमाणन्तर-	त्रमाणान्तर्-
13	6	<b>त्रिलक्षणकादिः</b>	त्रि <b>स्क्षणका</b> दिः <sup>४</sup>
35	20	पवतीवहि-	पर्वतो बह्धि-
12	3.0	वह्विमाननित्यु-	र्वाह्ममानित्यु-
13	२७	आचा-	লয়া-
18	15	साधने	साधने <sup>3</sup>
18	16	-राणा पद-	-राणासुपद -
19	२९	चतुर्थः	"चतुर्थः
24	*	−भूतकिया−	−भूतकिया-
24	30	<b>क</b> धी॰	<b>ल</b> षी॰
₹ €	२९	-हासेनैका	−ह्यासेऽनैका−
4.0	40	-भ्युगच्छन्	-स्युपगच्छन्
36	9	स्थापनाभ्दुप	स्थापनानभ्युप -
₹6	\$ 6	दृश्यत	दृश्यते
<b>2</b> 9	Ę	·[ 60 ]	[विशेषा०६०]
\$ 4	Ę	फल्लात्	तत्फल्यात्
\$5	4	स्वपरम्यसिति-	स्वपरव्यवसिति -
<b>₹</b> ₹	30	-स्मदादि प्रत्य-	<del>-स्</del> मदादिप्रस्य -
22	3.5	रम्यादि ज्ञान	-रग्न्यादिज्ञान-
<b>\$</b> 8	15	इत्यन्तऽर्ज	इत्यन्त जै-
₹8	38	- निमितं	-निमित्तं
₹8	28	भम्यास पाट	अभ्यासपाट-
34	44	व्यञ्जना	व्यक्तना-
3.5	40	<b>उपधातः</b>	उपचातः
३६	48	–পৰাৱা–	-पघाता-
30	2	–पथात–	-पचात-
10	٩	मनोगतम्	मनो गतम्
36	14	विकला पूर्विकी	विकलपपूर्विका
10	14	पाटन किया	पाटनक्रिया
\$9		स्यजना-	व्यक्षना-
19	16	<b>ख</b> ब्धि	কৃতিখ
80	12	ब्रह्स्यवि-	प्रहस्य वि-
80	₹o २€	निश्चियो पुर्छीन्द्र-	निश्चयो
46	20		पुलिन्द
46	₹0 <b></b>	₹ø :	₹¢
74	4.0	ষ্ণা <del>স্বোক্ত</del>	શક્

# वीर सेवा मन्दिर

वार सवा नान्यर पुस्तकालेव १३३ (१९ ४ ११) नि

शीर्वक जी पर्वापिकापी